प्रस्तावना

अपनी सुनिश्चित लोकोपकारिताके कारण होमियोपैथिक चिकित्सा स्वल्प कालमें ही लोकप्रिय हो गई है। यह निश्चय है कि निकट भविष्यमें यह चिकित्सापद्धति स्वतंत्र भारत की राजमान्य चिकित्सापद्धतियोंमें अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेगी।

राष्ट्रभाषा हिन्दीमें होमियोपैथिक चिकित्सा-विषयक सिद्धान्त और विज्ञानके प्रामाणिक ग्रन्थोंका अभाव बहुत खटकता था। अत एव इस कोटिके ग्रन्थोंका प्रणयन एवं प्रकाशन निःस देह महत्वपूर्ण कार्य है।

'होमियोपैथिक चिकित्साविज्ञान' के रचयिता डाक्टर बालकृष्ण मिश्र द्वारा प्रणीत 'होमियोपैथिक चिकित्सासिद्धान्त' को हिन्दी होमियोपैथिक जगतमें प्रस्तुत करते हुए हम अति आनन्दका अनुभव कर रहे हैं।

मिश्रजी उच्च कोटिके होमियोपैथिक चिकित्सक हैं। होमियोपैथिक चिकित्साविज्ञान नामक उनकी प्रथम रचना भली भाँति प्रमाणित करती है कि वे इस रहस्यमय विज्ञानके मर्मज्ञ हैं। अत एव उनकी रचनाओंमें सिद्धान्तोंकी वास्तविक अभिव्यक्ति स्वभावतः होती है, और प्रभावमयी भाषामें होती है। चिकित्सासंबन्धी विज्ञान और दर्शनके सरस विवेचनमें मिश्र महाशयकी अभूतपूर्व सफलता अत्यन्त प्रशंसनीय है।

होमियोपैथीके सिद्धान्तग्रन्थ—'आर्गेनन'—के जितने हिन्दी संस्करण अबतक प्रकाशित हुए उनमें यह सर्वोत्तम है। इसमें आर्गेननके सूत्रोंका केवल अविकल और निर्भ्रान्त भाव सुबोध भाषामें व्यक्त किया गया है, वरन् प्रत्येक सूत्रके आरंभमें अत्यन्त उपयुक्त शीर्षक भी दिया गया है जिससे बड़ी सरलतापूर्वक पता चल जाता है कि अमुक सूत्रमें अमुक विषयकी व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त सूत्रोंकी टिप्पणियाँ अत्यंत

सरस, विवेकपूर्ण और प्रभावशाली हैं, एक बार पढ़नेसे ही उनका विषय और भाव पाठकको हृदयंगम हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थको विषयानुसार चार मुख्य खण्डोंमें विभक्त करके विद्वान् ग्रन्थकारने छात्रोंके लिये आर्गेननका अध्ययन अति सुविधाजनक कर दिया है तथा चिकित्सकोंके लिये आवश्यक सूत्रोंको तुरन्त ढूँढ लेना भी अति सुगम बना दिया है।

ऐसे सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थका अभाव ही अबतक हिन्दी जाननेवाले छात्रों और चिकित्सकोंकी सिद्धान्तसंबन्धी अनभिज्ञता एवं तज्जन्य असफलताका मूल कारण था। इस परम उपादेय प्रणयनद्वारा मिश्रजीने छात्रों और चिकित्सकोंके लिये वह साधन प्रस्तुत कर दिया है जिससे वे होमियोपैथीके गूढ रहस्यमय सिद्धान्तोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उसके उपयोगद्वारा चिकित्साकार्यमें सफल हो सकते हैं।

हमारा तो यह सुनिश्चित मत है कि हिन्दी होमियोपैथिक शिक्षाक्रममें इस ग्रन्थको तथा मिश्र-महाशय रचित होमियोपैथिक चिकित्सा-विज्ञानको विशेष प्रधानता प्राप्त होनी चाहिए। दोनों ग्रन्थोंमें ७५ प्रतिशत अंक प्राप्त किए बिना, किसी छात्रको होमियोपैथिक चिकित्सक होनेका प्रमाणपत्र नहीं दिया जाना चाहिए।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी होमियोपैथिक जगतमें मिश्र महाशय जीके इन दोनों अमूल्य ग्रन्थोंका पूर्ण सम्मान होगा।

एस. जी. मुकर्जी,
सभापति—
अखिल भारतीय होमियोपैथिक सम्मेलन

भूमिका

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

अब भारत स्वतंत्र हो गया है। भारतीय जनता तथा शासनाधिरूढ प्रतिनिधिवर्ग भारतीय राष्ट्रको सर्वविध सम्पन्न बनानेमें तत्पर हो रहे हैं। परन्तु स्वस्थ राष्ट्र ही सब प्रकारकी उन्नति कर सकता है। राष्ट्रिय उन्नति अधिकांश राष्ट्रिय स्वास्थ्य पर निर्भर है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता। राष्ट्रको स्वस्थ बनाना, तथा उसे रोगोंके आक्रमणोंसे सुरक्षित रखना, एवं इसके लिये उत्तमोत्तम साधनोंका संग्रह करना अधिकारीवर्गका सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। सौभाग्यकी बात है कि इस महान् कार्यके प्रति वे उदासीन नहीं हैं, वरन् भारतीय राष्ट्रको रोगोंसे मुक्त करने तथा उनके आक्रमणोंसे सुरक्षित रखनेके लिये वे प्रयत्नशील हैं। वैयक्तिक एवं राष्ट्रिय स्वास्थ्यके लिये शुद्ध जलवायु, विशुद्ध एवं पौष्टिक खाद्य सामग्री, ऋतुके अनुकूल स्वच्छ वस्त्र, स्वास्थ्यप्रद निवासगृह, शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम, सद्भावना और सदाचारकी जितनी आवश्यकता होती है, उतनी ही आवश्यकता उत्तम चिकित्सा पद्धतिकी भी होती है। प्रस्तुत प्रसंगमें हमें केवल एक साधनका विचार करना है। वह है उत्तम चिकित्सा-पद्धति। इस सम्बन्धमें यह भी विचार करना है कि आधुनिक वैज्ञानिक युगमें जितने चिकित्साविधान प्रचलित हैं उनमेंसे किसके द्वारा भारतीय राष्ट्रका यथेष्ट कल्याण हो सकता है, अर्थात् हमारे लिये सर्वोत्तम चिकित्सा-पद्धति कौन है?

भारतकी वन्यभूमिमें प्रकृतिकी उदारतासे विविध प्रकारकी असंख्य विचित्रगुणसम्पन्न औषधियाँ–जड़ी-बूटियाँ–होती हैं। यदि आधुनिकतम चिकित्सासंबन्धी वैज्ञानिक प्रगतिके अनुसार भारतके अक्षय, अतुलनीय एवं विचित्र गुणसम्पन्न भेषज-भण्डारका उपयोग किया जावे, तो न केवल भारतीय राष्ट्रका स्वास्थ्य सुरक्षित हो सकता है वरन् समस्त भूमण्डलके मानव समाजका कल्याण हो सकता है।

अब वह युग नहीं रह गया जब हम यह कहकर आत्म-सन्तोष कर लिया करते थे कि—

"हकीमो वैद यकसां हैं अगर तसखीश अच्छी है।
हमें सेहतसे मतलब है बनपशा हो कि तुलसी हो।।"

यह समय है राष्ट्रको और साथ ही साथ राज्यको (देशको) सर्वसाधनसपन्न और समृद्ध बनानेका। और यह तभी संभव हो सकता है जब हम अपने देशमें ही उत्पन्न सामग्रियों और साधनोंका इस प्रकार उपयोग करें कि हमारा राष्ट्र तथा हमारा देश स्वस्थ, सम्पन्न, समृद्ध और बलसमन्वित होता हुआ अन्य राष्ट्रों और देशोंमें किसी प्रकारकी वैज्ञानिक प्रगतिमें पिछड़ा न रह जावे।

तो, अब प्रश्न यह होता है कि उपर्युक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिये भारतीय भेषजभण्डारके उपयोगकी सर्वोत्तम विधि क्या हो सकती है? अर्थात् सर्वोत्तम चिकित्सा-विधान कौन है? प्रश्न कठिन है। इसका ठीक-ठीक उत्तर कौन दे सकता है? क्या वह, जिसने संसारके सब प्रचलित चिकित्सा विधानोंका अध्ययन किया है? परन्तु संसारके सब चिकित्सा-विधानोंके अध्ययनमात्रसे यह अधिकार और सामर्थ्य नहीं प्राप्त हो सकता कि वह इस जटिल समस्याका निर्णय कर सके। तो, फिर क्या,

इस प्रश्नका उत्तर वह दे सकता है जिसे सब चिकित्सा-प्रणालियों द्वारा चिकित्सा करनेका अच्छा अनुभव भी हो? अथवा क्या इस प्रश्नका ठीक उत्तर प्राप्त करनेके लिये ऐसे रोगियोंकी मतगणना करनी होगी जिन्होंने विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियोंद्वारा चिकित्सा कराकर यह अनुभव प्राप्त कर लिया हो कि सर्वोत्तम कौन है? अथवा क्या ऐसे रोगियोंके अभिभावकोंका बहुमत ही इस समस्याका समुचित समाधान कर सकता है?

वास्तवमें उपर्युक्त प्रश्नका निर्णय तो इस प्रकार ही हो सकता है, कि संसारके चिकित्सा-विधानज्ञों, अनुभवी चिकित्सकों, भुक्तभोगी रोगियों एवं उनके अभिभावकोंको एकत्र करके विचारविनिमय किया जावे। परन्तु यह कहाँ तक संभव हो सकता है कहा नहीं जा सकता। अतएव तर्कद्वारा ही हमें चिकित्साविधानोंके संबन्धमें विचार करना होगा। संसारमें अनेक चिकित्साविधान हैं। उन सबके अनुयायी अपने-अपने चिकित्साविधानको सर्वोत्तम कहते हैं और मानते भी हैं। परन्तु सब सर्वोत्तम नहीं हो सकते। वही चिकित्साविधान सर्वोत्तम हो सकता है, और उसी चिकित्साविधानद्वारा मानव समाजका चिकित्सासंबन्धी यथेष्ट कल्याण हो सकता है जिसमें अधोवर्णित चार गुण पाए जावें। चिकित्साविधानकी यही चतुष्कोणी कसौटी कही जा सकती है; यथा :—

(१) चिकित्सा-विधानके सिद्धान्त युक्तियुक्त, सुगम, और सुनिश्चित हों।

(२) चिकित्सासंबन्धी प्राकृतिक नियम चिकित्साविधानका आधार हो।

(३) रोगका नाश अत्यन्त शीघ्र एवं अत्यन्त कष्टरहित विधिसे हो।

(४) रोगमुक्ति समूल और स्थायी हो।

चिकित्सा-विधानोंको उपर्युक्त कसौटियों पर कसनेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि चिकित्सा चार प्रकारकी होती है। भैषज्य, शल्य, औपचारिक, और आध्यात्मिक। भैषज्य चिकित्सामें भेषज-प्रयोगद्वारा रोगमुक्ति सपादित की जाती है। जब मानव शरीर-यन्त्रके किसी भागको चीरने, फाड़ने, सीने, जोड़ने, काटने आदिकी आवश्यकता होती है, तब शल्य-चिकित्सा प्रयोजनीय होती है, औषध-प्रयोग विना, केवल स्नान, मर्दन, मेस्मेरिज्म आदि द्वारा जो चिकित्सा-संबन्धी उपचार किए जाते हैं उन्हें औपचारिक चिकित्सा कहते हैं। शमदमादि साधनों-द्वारा तथा सत्कर्म[1], सदाचार और सद्भावनाद्वारा कुसंस्कारोंको क्षीण एव नष्ट करना, तथा सुसंस्कारोंको दृढ़ करना[2] आदि आध्यात्मिक चिकित्साके अङ्ग हैं।

चिकित्साके उपर्युक्त चारों भेदोंमें प्रथम दो भेद मुख्य माने जाते हैं, अर्थात् भैषज्य और शल्य। अधिकतर इन्हीं दो विभागों द्वारा रोगियोंकी चिकित्सा होती भी है। भैषज्य और शल्य दोनों ही चिकित्सा-शास्त्रके अङ्ग हैं, किन्तु दोनों परस्पर सर्वथा भिन्न होते हैं। दोनोंकी प्रक्रिया, अधिकार और, क्रियाक्षेत्र एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न होते हैं। चिकित्सक दोनोंमें समान नैपुण्य प्रायः नहीं प्राप्त कर पाते। यद्यपि यह असंभव नहीं है, और कभी-कभी ऐसे असाधारण योग्यता-सम्पन्न चिकित्सक उदाहरण भी मिल जाते हैं, तथापि दोनोंमें दक्ष होना आवश्यक भी नहीं है।

१—कर्मोंके सम्बन्धमें लेखककी चिकित्साविज्ञान नामक पुस्तकका द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है।

२—इस प्रसगमें चिकित्साविज्ञानका १५ वा अध्याय देखें।

यदि भैषज्य चिकित्सक शल्य-चिकित्सामें भी कुशल हो, तो उत्तम ही है परन्तु एक विभागमें नैपुण्य-प्राप्त चिकित्सकको अपना कार्य सपादन कर सकनेके लिये दूसरे विभागमें भी दक्ष होना कदापि आवश्यक नहीं। दोनोंके कार्यक्षेत्र प्राय भिन्न हुआ करते हैं। अतएव भैषज्य चिकित्सकोंका यह प्रधान कर्तव्य है कि यदि किसी रोगीकी दशा भैषज्य-चिकित्सा क्षेत्रके बाहर हो, तो उसे तुरन्त योग्य शल्य-चिकित्सकके पास भेज देना चाहिए। शल्य चिकित्साके योग्य रोगियोंके सबन्धमें भैषज्य-चिकित्सा करनेकी हठधर्मी करना रोगीके जीवनका खेलवाड करना नहीं तो क्या हो सकता है? अस्तु यह विषय यहा किसी सीमा तक आगे अप्रासगिक हो जा सकता है। अत मुख्य विषय पर आ जाना चाहिए कि भैषज्य और शल्य, ये ही दोनों चिकित्साके प्रधान अङ्ग हैं। इनमेंसे प्राय भैषज्यद्वारा ही अधिक सख्यामें रोगियोंकी चिकित्सा होती है। बहुत अल्प अनुपातमें शल्य-चिकित्साकी आवश्यकता पडा करती है। इस कथनका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि शल्य चिकित्सा चिकित्साका अमुख्य अथवा गौण अङ्ग है। मुख्य तात्पर्य केवल यह है कि चिकित्सा शब्दके प्रयोगसे प्राय भैषज्य चिकित्साका ही अभिप्राय होता है।

भैषज्य चिकित्साके अर्थात् चिकित्साके मुख्य दो ही विधान हैं, यथा—सदृश विधान और असदृश विधान। होमियोपैथीको हिन्दीमें सदृश विधान कहते हैं। होमियोपैथीके अति रिक्त ससारके अन्य सब चिकित्सा-विधान असदृश विधानके ही अन्तर्गत हैं, यथा—एलोपैथी, यूनानी, और आयुर्वेदिक आदि। जैसा 'सदृश' और 'असदृश' नाममात्रसे ही प्रकट है दोनों विधानोंका मुख्य पार्थक्य यह है, कि सदृश विधानके अनुसार, रोगनाश

करनेके लिये उसी एक औषधका प्रयोग किया जा सकता है जिसकी परीक्षा स्वस्थ व्यक्तियों पर करके यह निश्चय कर लिया गया है कि उससे प्रस्तुत रोगलक्षणोंके अत्यन्त सदृश कृत्रिम रोग-लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। असदृश-विधानके अनुसार, यह कदापि आवश्यक नहीं होता, अर्थात् असदृश विधानात्मक औषधजन्य कृत्रिम रोगलक्षण प्रस्तुत रोगलक्षणोंके सदृश नहीं होते वरन् असदृश होते हैं, और प्राय: विपरीत होते हैं। इस विशेष पार्थक्यके अतिरिक्त अनेक दूसरे पार्थक्य भी हैं जिनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं, यथा:—

(१) प्रकृतिका सूक्ष्म निरीक्षण, औषध तथा रोगीका सावधान परीक्षण, और विशुद्ध अनुभव सदृश विधानके आधार हैं। असदृश विधानमें इनका कोई महत्त्व नहीं।

(२) सदृश विधानके अनुसार अदृश्य शक्तिमय सूक्ष्म शरीर मुख्य रोगी, तथा उसकी (सूक्ष्मशरीरकी) स्वस्थ दशाका परिवर्तन रोग माना जाता है। जड स्थूल शरीरमें जो परिवर्तन गोचर होते हैं, सदृश विधानके, अनुसार वे सब रोगके परिणाम माने जाते हैं। परन्तु असदृश विधान जड़ (स्थूल) शरीरको रोगी और शरीरमें प्रकट होनेवाले रोग-परिणामोंको रोग मानता है।

(३) अतएव सदृश विधानमें औषध-द्रव्योंको शक्तिकृत करके, अर्थात् उन्हें शक्तिमय बनाकर उनका प्रयोग लक्षण-सादृश्यके आधारपर अत्यन्त अल्प मात्रामें किया जाता है। असदृश विधानमें तो औषधोंके भौतिक अंशका प्रयोग बड़ी-बड़ी मात्रामें किया जाता है, और प्राय. अनेक औषधोंके मिश्रणका इस प्रकार प्रयोग किया जाता है।

सदृश और असदृश चिकित्साविधानोंके उपर्युक्त पार्थक्यको

भलीभाँति समझनेके लिये यह जान लेना आवश्यक है कि औषध किसे कहते हैं, और कोई द्रव्य औषध क्यों कहलाता है? सर्व-साधारणकी धारणा तो यही हुआ करती है कि जिसके द्वारा रोगका नाश संपादित हो उसे औषध कहते हैं। औषध-प्रयोगके उद्देश्यको दृष्टिमें रखकर औषधकी ऐसी व्याख्या करना समुचित हो सकता है। परन्तु औषधकी प्राथमिक क्रियाको लक्ष्य करके औषधकी व्याख्या यही होती है कि जिस द्रव्यसे अथवा जिस द्रव्यके प्रभावसे (शक्तिसे) मानव शरीरयन्त्रमें कृत्रिम रोगलक्षण उत्पन्न हो सकते हैं उसे औषध कहते हैं। यह भिन्न बात है कि किस द्रव्यसे (किस औषधसे) अर्थात् किस औषधकी प्राथमि · क्रियासे, मानव शरीरयन्त्रमे, कैसे कृत्रिम रोगलक्षण उत्पन्न हो सकते हैं, प्रस्तुत रोगलक्षणोंके सदृश, अथवा असदृश एवं विपरीत।

· औषधोंकी प्राथमिक क्रियाके विरोधमें मानव जैवशक्तिकी प्रतिक्रिया हुआ करती है। यह अत्यन्त स्वाभाविक बात है। जैवशक्तिकी इस प्रतिक्रियाको ही औषधकी गौण क्रिया भी कहा करते हैं। औषधोंकी प्राथमिक क्रियाको ही लक्ष्य करके असदृश विधानमें औषधोंका प्रयोग किया जाता है। किसी प्रस्तुत रोगीका जो अत्यन्त कष्टप्रद रोगलक्षण होता है, उसी रोगलक्षण से असदृश और प्रायः विपरीत कृत्रिम रोगलक्षण उत्पन्न करने-वाली औषधका प्रयोग असदृश विधानके अनुसार किया जाता है; यथा :—यदि रोगीको अनिद्रासे बहुत कष्ट हो, तो असदृश विधानके अनुसार उस द्रव्यका प्रयोग किया जाता है जिसकी प्राथमिक क्रियासे रोगीको कृत्रिम निद्रा आ जाती है। कृत्रिम निद्रालुता स्वयं कृत्रिम रोगलक्षण नहीं तो क्या है? यदि रोगीको पीड़ाविशेषकी अनुभूतिसे अति कष्ट हो रहा हो, तो असदृश

विधानके अनुसार ऐसी औषध दी जाती है जिसकी प्राथमिक क्रियासे रोगीको पीड़ाकी अनुभूति नहीं होती, अर्थात पीड़ा-स्थल अनुभव-शून्य हो जाता है, यह भी कृत्रिम रोगलक्षण ही है। इसी प्रकार उदरामयके रोगीको ऐसी औषध दी जाती है जिसकी प्राथमिक क्रियासे कृत्रिम कोष्ठबद्धता हो जाती है।

असदृश विधानमें इसकी चिन्ता नहीं की जाती कि औषध-की प्राथमिक क्रियाके विरोधमें मानव जैवशक्ति कैसी प्रतिक्रिया करती है। प्रतिक्रियाकी अवस्थामें मूल रोगलक्षण बढ़ ही जाता है। उस समय असदृश विधानके अनुसार उसी औषधकी बड़ी-बड़ी मात्रा बारम्बार देकर रोगीको नीरोग करनेकी व्यर्थ चेष्टा की जाती है। परिणाम यही होता है कि रोगीकी जैवशक्ति जब और प्रतिक्रिया करनेमें असमर्थ हो जाती है तब कोई भयानक व्याधि प्रकट होकर रोग असाध्य हो जाता है अथवा रोगी मृत्युमुखमें चला जाता है।

परन्तु सदृश विधानमें ऐसा नहीं होता। उसके अनुसार तो औषधकी प्राथमिक क्रियाके विरुद्ध मानव जैवशक्तिकी प्रति-क्रियाको प्रोत्साहन करके ही नैरोग्य-सम्पादन किया जाता है। अस्तु, इस विषयका पूर्ण विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थमें भलीभांति किया ही गया है। यहाँ इसका सूक्ष्म दिग्दर्शन करानेका तात्पर्य केवल यह है कि मानव शरीरयन्त्रमें कृत्रिम रोगलक्षणोंको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य जिन द्रव्योंमें होती है, वे ही औषध हैं। इसे दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि औषधोंमें मानव जैवशक्तिको फलतः शरीरयन्त्रको कुछ अथवा अधिक कालके लिये दुर्व्यवस्थित कर देनेकी शक्ति होती है। इसी शक्तिके कारण रोगनाशके लिये उनका प्रयोग औषधवत् किया जाता है। परन्तु प्रत्येक औषध अपने-अपने अनुरूप

भिन्न-भिन्न कृत्रिम रोगलक्षण-समूहको ही उत्पन्न करती है। स्वस्थ व्यक्तियोंपर प्रत्येक औषधकी परीक्षा किए बिना, यह निश्चय कदापि नहीं किया जा सकता कि किस औषधसे कैसा कृत्रिम रोग (रोगलक्षणसमूह) उत्पन्न हो सकता है।

किसी असदृश विधानके अनुसार चिकित्सा करनेमे ऐसा विचार कदापि नहीं किया जाता कि अमुक औषधके सेवनसे स्वस्थ मानव शरीरयन्त्रमे किस प्रकारका कृत्रिम रोग उत्पन्न हो सकता है। वास्तवमे तो सदृश विधानके अतिरिक्त संसारके किसी अन्य चिकित्साविधानमें स्वस्थ मानव शरीरपर औषधोंकी परीक्षा करनेका नियम ही नहीं पाया जाता। परन्तु सदृश विधानमे किसी औषधका प्रयोग अस्वस्थ व्यक्तिपर तबतक नहीं किया जा सकता, जबतक अनेक स्वस्थ व्यक्तियोंपर औषधकी परीक्षा करके यह निश्चय नहीं कर लिया जाता कि उस औषधमे किस प्रकारके कृत्रिम रोगको उत्पन्न करनेकी शक्ति है, अर्थात् उससे स्वस्थ मानव शरीरयन्त्रमे किस प्रकारका दुष्परिणाम हो सकता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि औषध प्रयोगद्वारा चिकित्सा तो रोगियोंकी होती है, अतएव स्वस्थ व्यक्तियोंपर औषध-परीक्षाका प्रयोजन ही क्या हो सकता है ?

जैसा पहले संकेत किया गया है, रोग कोई गोचर भौतिक वस्तु नहीं होते। सूक्ष्म शरीरमे रोगजनक हेतुके प्रभावसे मानव शरीर-यन्त्रका संचालन करनेवाली जैवशक्ति दुर्व्यवस्थित हो जाती है। यही दुर्व्यवस्था रोग है। जैवशक्तिके दुर्व्यवस्थित हो जानेपर शरीर-यन्त्रके विभिन्न अवयवोंकी क्रिया अनियमित हो जाती है, तथा पीडायुक्त अनुभूतियाँ होती हैं। इन अनियमित क्रियाओं तथा कष्टमय अनुभूतियोंका समूह रोगका परिणाम

और प्रतीक होता है। इनके द्वारा जैवशक्ति अपनी दुर्व्यवस्थित दशाका परिचय देती है, और उपयुक्त औषधकी माँग करती है। इसके अतिरिक्त रोगोंमें कुछ नहीं पाया जाता।

इसी प्रकार औषधमें मानव जैवशक्तिको दुर्व्यवस्थित कर देनेकी सामर्थ्यके अतिरिक्त कोई अन्य भौतिक तत्त्वविशेष नहीं रहता जिसके कारण औषध औषध होती है। औषधोंकी इसी दुर्व्यवस्था उत्पन्न करनेवाली शक्तिके प्रभावसे, न कि उनके किसी भौतिक अंशद्वारा, जैवशक्ति रोगमुक्त भी होती है, और जो औषध जिस प्रकारके कृत्रिम रोगको उत्पन्न कर सकती है उसी प्रकारके प्राकृतिक रोगको नष्ट कर सकती है।

औषधकी प्राथमिक क्रियाके समय जैवशक्ति प्राय निष्क्रिय सी रहती है, और औषधशक्तिके प्रभावसे अपनी दशामें दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो जाने देती है, परन्तु औषधकी प्राथमिक क्रिया समाप्त होते ही तज्जन्य दुर्व्यवस्थाके विरुद्ध जैवशक्तिकी प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रियाका फल यह होता है कि जैवशक्तिकी दशामें औषधकृत परिवर्तनसे ठीक विपरीत परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। प्रतिक्रिया वास्तवमें जैवशक्तिकी होती है परन्तु साधारणतया उसे औषधकी ही गौण क्रिया कहते हैं।

सदृशविधानात्मक औषधकी प्राथमिक क्रियासे रोगीमें प्राकृतिक रोगके अत्यन्त सदृश कृत्रिम रोग उत्पन्न हो जाता है। औषध शक्तिको घटाना-बढ़ाना चिकित्सकके अधीन रहता है। अतएव रोगीकी शक्तिका, रोगके वेगका और भोगकालका विचार करके सदृशविधानके अनुसार शक्तिकृत औषधकी अत्यल्प मात्राका प्रयोग किया जाता है। इसकी प्राथमिक क्रियाद्वारा वर्तमान रोगके अत्यन्त सदृश किन्तु उससे कुछ अधिक बल-शाली कृत्रिम रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। यह सदृश बलशाली

कृत्रिम रोग जैवशक्तिको अपने वशमें कर लेता है। फलतः जैव-शक्तिकी अनुभूतिमें प्राकृतिक रोगके अस्तित्वका अन्त हो जाता है और वह नष्ट हो जाता है, जैसे अरुणोदय होनेपर बृहस्पति-ग्रहकी अनुभूति नष्ट हो जाती है।

सदृश विधानात्मक औषधकी मात्रा अत्यन्त अल्प होती है। अतएव उसके द्वारा उत्पन्न हुई कृत्रिम व्याधि स्वयमेव शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। इसलिये जैव शक्तिको उस अस्थायी कृत्रिम व्याधिके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी नहीं करनी पड़ती, अथवा प्रतिक्रिया इतनी नगण्य होती है कि वह दृष्टिगोचर नहीं होती, और परिणाममें मूलरोगसे तथा कृत्रिम रोगसे भी, इस प्रकार, जैवशक्ति मुक्त होकर शीघ्र ही अपनी स्वस्थ दशामें प्रतिष्ठित हो जाती है।

असदृश विधानात्मक औषधसे ठीक विपरीत ही परिणाम होता है। असदृश औषधकी प्राथमिक क्रिया द्वारा जो कृत्रिम रोग उत्पन्न होता है वह मूल प्राकृतिक रोगके प्रायः किसी एक अथवा कभी एकसे अधिक लक्षणके विपरीत ही होता है। कारण यह है कि असदृश विधानके अनुसार ऐसी ही औषधका प्रयोग किया जाता है जो मूल रोगके किसी एक उग्र लक्षणके विपरीत-लक्षणको उत्पन्न करनेमें प्रसिद्ध होती है। और ऐसी कतिपय औषधोंका ही ज्ञान उस विधानके अनुयायियोंको होता है। अतएव औषध-क्रियाके विरोधमें जैवशक्तिकी प्रतिक्रिया होनेपर मूलरोगके उग्र लक्षणके सदृश लक्षणयुक्त रुग्ण दशा उत्पन्न हो जाती है जिसका विरोध करनेके लिये असदृश विधानात्मक औषधका प्रयोग किया जाता है। फलतः मूलरोग बढ़ ही जाता है। एक उदाहरणसे इसे स्पष्ट कर देना उत्तम होगा। अनिद्राका-नाश करनेके लिये, असदृश विधानके अनुसार, प्रायः अफीमका प्रयोग किया जाता है। अफीमकी प्राथमिक क्रियासे अनिद्राके

विपरीत अचेतन निद्रालुताकी दशा उत्पन्न हो जाती है और पहली रातमें रोगीको कुछ लाभ सा प्रतीत होता है। परन्तु औषधकृत इस कृत्रिम दशाके विरुद्ध जैवशक्तिकी प्रतिक्रिया होनेपर, अनिद्रा ही तो बढ जाती है। उसे दूर करनेके लिये फिर उसी असदृश औषधका प्रयोग मात्रा बढाकर किया जाता है। फिर औषधकी प्राथमिक क्रिया समाप्त होते ही जैवशक्तिकी प्रतिक्रिया होती है, और अनिद्रा ही बढ जाती है। बारम्बार इसी प्रकार मात्रा बढ़ा बढाकर असदृश औषधका प्रयोग करनेसे भी मूल प्राकृतिक रोगका नाश नहीं होता, वरन् वह अधिकाधिक बढता ही जाता है। वास्तवमें तो असदृश विधानात्मक चिकित्सा द्वारा किसी चिरकालीन रोगका विनाश कभी होता ही नहीं, प्रत्युत वे बढ जाते हैं और जटिल हो जाते हैं। आशु रोग भले ही अपनी अवधि पूरी कर लेनेपर, यदि रोगी बच गया, तो स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। यह तथ्य यहाँ तक सत्य है कि प्रकृति स्वयं भी असदृश रोगद्वारा कभी किसी चिररोगका विनाश नहीं कर सकती।

निष्कर्ष यही निकलता है कि सदृश विधानात्मक औषधसे ही रोगोंका विशेषकर चिरकालीन रोगोंका नाश हो सकता है। परन्तु सदृश विधानात्मक चिकित्साकी सफलताके लिये रोग और औषध दोनोंके लक्षणोंका निश्चयात्मक ज्ञान होना परम आवश्यक है। रोगके लक्षणोंका ज्ञान तो प्रत्येक रोगीकी विधिवत् परीक्षा करके प्राप्त किया जा सकता है[१]। परन्तु औषधके लक्षणोंका ज्ञान—अर्थात् इस बातका ज्ञान कि अमुक औषध

१ लेखकके 'चिकित्सा विज्ञान' नामक ग्रंथका चतुर्थ अध्याय इस प्रसंगमें द्रष्टव्य है।

किस प्रकारके लक्षणसमूहको उत्पन्न करनेमें समर्थ है—प्रत्येक औषधकी परीक्षा स्वस्थ व्यक्तियोंपर करनेसे ही प्राप्त हो सकता है[1]। जब चिकित्सकको यह निश्चयात्मक बोध हो कि अमुक औषध स्वस्थ मानव शरीरयन्त्रमें अमुक लक्षणसमूह उत्पन्न कर सकती है, तभी वह लक्षणसादृश्यके अनुसार उस औषध-शक्तिकी समुचित मात्राका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकता है, तत्फलस्वरूप प्राकृतिक रोग पीडित रोगीको रोगमुक्त कर सकता है, और उसे पुन स्वास्थ्यलाभ करा सकता है, अन्यथा कदापि नहीं और कथमपि नहीं।

जिस चिकित्साविधानके अनुसार रोगीको औषध देनेके पूर्व यह विचार नहीं किया जाता कि उसके सेवनसे स्वस्थ मानव शरीरयन्त्रमें क्या दुष्परिणाम अथवा किस प्रकारका कृत्रिम रोग-लक्षणसमूह उत्पन्न हो सकता है, तथा यह विचार नहीं किया जाता कि औषधकी प्राथमिक क्रियाके पश्चात् जैव शक्तिकी प्रतिक्रियाका क्या फल होगा, एव जिस चिकित्साके अनुसार ऐसा विचार करना आवश्यक ही नहीं समझा जाता, वरन् जिस चिकित्साविधानके अनुसार उपयुक्त अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण एव आवश्यक बातका विचार किए बिना ही औषधका—एकका नहीं, अनेक औषधोंके मिश्रणका—बडी-बडी मात्रामें और बारबार प्रयोग किया जाता है, उसी चिकित्साविधानके विषयमें संस्कृतके किसी कविकी यह व्यङ्गोक्ति चरितार्थ हो सकती है —

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेषितम्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥

१—इस प्रसगमें लेखकके 'चिकित्सा-विज्ञान' नामक ग्रन्थका तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है।

अर्थात् (चिकित्सक बननेके लिये) "किसीके द्वारा पीसी गई किसी वृक्षकी जड़ किसी रोगीको दे देना चाहिए; जो होना होगा, होगा।"

विचार करनेकी बात है कि किस एलोपैथिक विधानके अनुसार, अथवा किस प्रचलित आयुर्वेदिक प्रणालीके अनुसार, अथवा किस यूनानी हिकमतकी किताबके अनुसार. औषधोंकी परीक्षा स्वस्थ व्यक्तियोंपर की जाना आवश्यक है? अथवा सदृश विधानके अतिरिक्त किस असदृश विधानके अनुसार रोगीको औषध देनेके पूर्व यह विचार करना आवश्यक है कि उस औषधसे अथवा औषध-मिश्रणसे स्वस्थ व्यक्तियोंमें किस प्रकारका लक्षणसमूह (कृत्रिम रोग) उत्पन्न हो सकता है? वास्तवमें तो सदृश विधानके अतिरिक्त संसारका कोई चिकित्सा-विधान स्वस्थ मानव शरीरमें परीक्षार्थ औषध-प्रयोगकी विधिको प्रतिष्ठित नहीं करता। यदि अकस्मात् अथवा जानबूझकर कोई व्यक्ति किसी ऐसी औषधको खा लेता है, अथवा उसे भूल कर कोई ऐसी औषध खिला दी जाती है, जिसकी प्राथमिक क्रियाद्वारा उग्र मारक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, तो ऐसे लक्षण ही असदृश विधानमें उस औषधकी विष-क्रियाको जाननेके लिये आधार बन जाते हैं, और तब ही उस औषधकी मात्राके प्रयोगके संबन्धमें नियमादि बना दिए जाते हैं। परन्तु यदि औषध उग्र मारक न हो, तब तो उसके दुष्परिणामोंका पता लगानेका कोई साधन असदृश चिकित्सा विधानमें नहीं पाया जाता। यदि एक औषध देनेकी प्रथा हो, तो कदाचित् ऐसा अवसर भी प्राप्त हो सकता है; परन्तु असदृश विधानके अनुसार अनेक औषधोंको मिलाकर ही प्रयोग करते हैं। फिर भला यह ज्ञान होना कैसे संभव हो सकता है कि किस औषधसे कैसा लक्षणसमूह

उत्पन्न हो सकता है; और इस परम आवश्यक ज्ञानके अभावमे यह निश्चयात्मक विश्वास कैसे किया जा सकता है कि अमुक रोगीका लक्षणसमूह ठीक वैसा ही है अथवा बहुत कुछ वैसा ही है जैसा अमुक औषध स्वस्थ व्यक्तियोंमे उत्पन्न कर सकती है। इस प्रकारके निश्चयात्मक ज्ञान विना किसी औषधका प्रयोग, गम्भीर उत्तरदायित्वपूर्ण चिकित्सासंबन्धी दैवी कार्यकी विडम्बनामात्र है, एवं उपर्युक्त व्यङ्गको ही चरितार्थ करता है।

अतएव जहाँ तक भैषज्य चिकित्साका क्षेत्र है यह निर्विवाद है कि सदृश विधानके सिद्धान्त (१) युक्तियुक्त, सुगम और सुनिश्चित है, (२) प्रकृतिके चिकित्सात्मक नियम सदृश विधानके आधार हैं, (३) अन्य चिकित्सा विधानोंकी अपेक्षा सदृश चिकित्सा विधानद्वारा रोगी अत्यन्त कष्टरहित विधिसे रोग-मुक्त हो जाते हैं, एव (४) इस विधानद्वारा संपादित रोग-मुक्तियाँ समूल और स्थायी होती हैं। अन्य किसी चिकित्सा-विधानमे उपर्युक्त चारों गुण नहीं पाए जा सकते।

अतएव यदि सदृश विधानके सिद्धान्तानुसार भारतीय भेपजोंकी परीक्षा स्वस्थ व्यक्तियोंपर की जावे, प्रत्येक औषध-शक्तिद्वारा उत्पन्न हुए लक्षण-समूहोंका संकलन, समर्थन और प्रमाणीकरण करके* भारतीय भेपजोंका भेपज-लक्षण-संग्रह (मेटीरियामेडिका) प्रस्तुत हो जावे, तो निस्संदेह न केवल भारतीय राष्ट्रका अपितु विश्वके समस्त मानव समाजका वाञ्छित कल्याण हो सकता है।

आधुनिक सभ्यजगत सदृश-विधानके (होमियोपैथीके)

---

* इसके सम्बन्धमे लेखककी 'होमियोपैथिक विज्ञान' नामक पुस्तक-का तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है।

नामसे ही नहीं अपितु इसके द्वारा सम्पादित अद्भुत और चमत्कारी रोगमुक्तियोंसे भी प्राय परिचित होगया है। इस चिकित्सा-विधान द्वारा संसारमें इस समय लक्ष लक्ष मानव प्रतिदिन रोग मुक्त होते हैं। इस चिकित्सा विधानकी सर्वोत्तमता तो पाठकोंको प्रस्तुत ग्रन्थके मननसे स्वयमेव विदित हो जायगी। भूमिकामें तो उसका आभासमात्र ही कराया जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि सर्वोत्तम चिकित्सा विधान होते हुए भी, जनतन्त्रात्मक भारतमें सदृश विधानको अबतक मान्यता क्यों नहीं प्राप्त हुई ?

कई शताब्दियोंसे भारत परतन्त्र रहा है। यह तो स्वाभाविक ही है कि विजेता राष्ट्र विजित राष्ट्रपर अपनी संस्कृति, भाषा आदि लादनेका पूर्ण प्रयत्न करता है। जिस राष्ट्रका शासन भारतमें हुआ उसके अधिकारियोंने अपने राष्ट्रकी चिकित्सा-पद्धतिका प्रचार और प्रसार भारतमें किया। उसी पद्धतिको मान्यता भी प्रदान होती आई। इस परम्पराके अनुसार भारतमें आयुर्वेदिकके अतिरिक्त क्रमशः यूनानी और एलोपैथिक चिकित्सा पद्धतियोंका प्रचार और प्रसार हुआ। वर्तमान् स्वतंत्र भारतको आंग्लशासन-कालीन चिकित्सापरंपरा पैतृक सम्पत्तिवत् प्राप्त हुई, आंग्लशासन कालमें एलोपैथीकी पद्धति प्रधान थी, वही राज-मान्य चिकित्साप्रणाली थी। अतः उसी चिकित्सा विधानके स्नातकोंको चिकित्सा और जनस्वास्थ्यसंबन्धी प्रधान राजपद भी प्रदान किए जाते थे। वे ही इन विभागोंके सर्वश्रेष्ठ अधिकारी समझे और माने जाते थे। फलतः स्वतन्त्र भारतमें भी ऐसे ही व्यक्तियोंको प्रधान राजपदारूढ करके वे विभाग सौंप दिए गए। और तुरन्त हो ही क्या सकता था ?

असदृश विधानके स्नातकोंकी दृष्टिमें सदृश विधान हेय

और अपूर्ण चिकित्सा-विधान माना जाता है। स्वतंत्र भारतमें सदृशविधानको राजमान्यता प्रदान किए जानेकी माँग होनेपर असदृश-विधानात्मक मनोवृत्तिके सदस्योंको ही यह निश्चय करनेका अधिकार दिया गया कि सदृश-विधान कहाँतक समुचित चिकित्सा-विधान हो सकता है, और उसे मान्यता प्रदान करना समुचित है कि नहीं। इस समितिने सदृश-विधानात्मक चिकित्सा-पद्धतिके संबन्धमें जो मत व्यक्त किया है वह उनके सदृश-विधान-संबन्धी गाढ़ अज्ञान एवं घोर द्वेषका ही परिचायक है। उक्त समितिके मतमें सदृश-विधान अपूर्ण एवं भयावह चिकित्सा-पद्धति है। अतः इसे राजमान्यता प्रदान करनेके पूर्व उसके ढाँचेमें इस प्रकारका परिवर्तन कर देना नितान्त आवश्यक है कि वह भी अर्ध असदृश विधानात्मक तो हो ही जावे! (इसका उद्देश्य कदाचित् यह हो कि कालान्तरमें असदृशविधान सदृशविधानको आत्मसात कर लेगा)। सारांश यह है कि उक्त समितिके मतमें सदृशविधानको विकृत करके, उसे असदृशविधानसे मिश्रित करके, फलतः उसको न जाने कौनसा विधान बनाकर, न जाने किस पैंथीमें परिणत करके राजमान्यता देनी चाहिये।

आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सा-पद्धतियोंको, यदि इस प्रकार उन्नत करके, (वास्तवमें तो विकृत करके) मान्यता प्रदान की गई, तो आयुर्वेदिक और यूनानी-पद्धतियोंकी कोई विशेष क्षति नहीं समझी जा सकती। कारण कि तीनों असदृश विधानके ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। उनमें किसी न किसी अंशमें सैद्धान्तिक एकता अवश्य पाई जाती है। अतएव उनको परस्पर मिश्रित करनेसे किसीकी कोई क्षति नहीं होती। परन्तु यही व्यवहार सदृश विधानके साथ सर्वथा असंगत है। सदृश

और असदृश विधान दोनों एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत हैं। उनका सम्मिश्रण कदापि नहीं हो सकता। ऐसे सम्मिश्रणसे सदृश विधान कदापि सदृश विधान नहीं रह जायगा। हाँ, तब उसे असदृश-विधानके अन्तर्गत एक नूतन नाम दिया जा सकता है। उस नूतन एवं विचित्र चिकित्सा-विधानको राज-मान्यता प्राप्त होनेसे यह कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता कि सदृश-विधानको राजमान्यता प्राप्त हो गई। ऐसे विचित्र चिकित्सा-विधानसे न तो भारतीय राष्ट्र अथवा देशका और न विश्वके किसी मानव-समाज अथवा राष्ट्रका ही कोई हितसाधन हो सकेगा।

इस सम्बन्धमें पाठकोंके मनोरंजनार्थ एवं जानकारीके लिये स्वयं महात्मा हैनिमैनकृत चिकित्सा-सिद्धान्त (आर्गेनन आफ मेडिसिन) के ५२ वें सूत्रका अंग्रेजी अनुवाद यहाँ उद्धृत कर देना उत्तम होगा[१]।

52

There are but two principal methods of cure, the one based only on accurate observation of nature, on careful experimentation and pure experience, the Homœopathic, and a second which does not do this, the Heteropathic or Allopathic. Each opposes the other and only he who does not know either can hold the delusion that they can ever approach each other

१ बोरिक एण्ड टेफल द्वारा प्रकाशित आर्गेननके छठे संस्करणसे।

or even become united, or to make himself so ridiculous as to practice at one time homœopathically, at another allopathically, according to the pleasure of the patient, a practice which may be called criminal treason against divine homœopathy

अर्थात्—

"रोगमुक्तिके दो ही मुख्य विधान हैं। एक है सदृश विधान अर्थात् होमियोपैथी। प्रकृतिका सूक्ष्म निरीक्षण, सावधान परीक्षण तथा विशुद्ध अनुभव सदृश विधानके आधार हैं। दूसरा है असदृश विधान अर्थात् एलोपैथी, जिसमें उपर्युक्त आधारोंका कोई विचार नहीं किया जाता। ये दोनों पद्धतियाँ एक दूसरेसे विपरीत हैं। जिनको दोनों प्रणालियोंमेंसे एकका भी ज्ञान नहीं होता, उनको ही यह भ्रम हो सकता है कि दोनों विधानोंमें समानता है, अथवा दोनों सम्मिलित भी किये जा सकते हैं। रोगीकी इच्छानुसार कभी सदृशविधानसे और कभी असदृश विधानसे चिकित्सा करके ऐसे ही चिकित्सक अपने आपको उपहासास्पद बना सकते हैं। वास्तवमें तो यह प्रमाद दैवी सदृश विधानके प्रति दण्डनीय विश्वासघात है।"

इस प्रकार सिद्धान्तत सदृश चिकित्सा-पद्धतिमें किसी अन्य विधानकी प्रक्रियाओंका सम्मिश्रण करना सर्वथा अनुचित है। विशुद्ध सदृशविधानको ही मान्यता प्रदान करनेसे भारतीय राष्ट्रका स्वास्थ्य और चिकित्सा-सम्बन्धी हितसाधन हो सकता है।

सदृशविधानके मूल सिद्धान्त भारतीय संस्कृति और मनोवृत्तिके सर्वथा अनुकूल हैं। भारतीय संस्कृतिमें दैवी जगत् और

सूक्ष्म शरीरकी प्रधानता है। सदृशविधान प्रधानत सूक्ष्म शरीर की चिकित्साका भी विधान है। सूक्ष्म शरीरके अस्वस्थ हो जानेपर मनुष्यका शरीरयन्त्र अस्वस्थ हो जाता है, और सूक्ष्म शरीरके स्वस्थ हो जानेपर शरीरयन्त्र स्वस्थ होकर अपनी जीवनोचित क्रियाओंको सपादित करने लगता है। अत इसमे किंचित् भी सदेह नही कि भारतीय सस्कृतिसे सदृशविधानके मौलिक सिद्धान्तोंकी पृष्ठभूमिका निकटतम सान्निध्य है। जगद्गुरु भारतको सदृशविधानके वैज्ञानिक नियमका भी पता ससारमें सबसे पहले चल गया था। अध्यात्मवादी भारतमे सदृश-विधानात्मक चिकित्सा वैदिक कालमें भी प्रचलित थी। यजुर्वेदके सोम-सबन्धी मन्त्रसे इसका उत्तम आभास मिलता है, यथा—

'यस्त रस सभृत ओपधीपु सोमस्य शुष्म सुरया सुतस्य।
तेन जिन्व यजमान मदन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम् ॥'
(यजु अ १६ क ३३)

भावार्थ—सोम (चन्द्रमाकी आरोग्यदायिनी शक्ति) ओपधियोंमे व्याप्त है। औषधियोंको सुरा (सार) मे गलानेसे उसे प्राप्त किया जा सकता है, और उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर, जीव-शक्ति और इन्द्रिया स्वस्थ (रोगमुक्त) हो सकती है।

श्रीमद्भगवद्गीता अ० १५ श्लोक १३ मे भी यह पाया जाता है कि औषधियोंमे रसात्मक सोम शक्तिरूपेण वर्तमान रहता है, तथा उनका पोषण करता है। यथा—

'पुष्णामि चौपधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक।

भावार्थ—मैं ही रसात्मक सोम होकर औषधियोंका पोषण करता हू। अर्थात् औषधियोमे वर्तमान शक्ति ही सोम है।

इसके अतिरिक्त चरकके आधार पर माधवनिदानने एक ही

श्लोकमें संसारके सब चिकित्सा-विधानोंका सूत्ररूपेण समावेश पाया जाता है। इसमें सदृशविधान भी स्पष्ट रूपेण व्यक्त है। यथा—

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्॥

इसमें षट् चिकित्साविधानोंका वर्णन है, यथा—हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतु व्याधि-विपरीत, हेतुसदृश, व्याधि-सदृश, तथा हेतु-व्याधिसदृश। पहले तीन असदृश विधानात्मक हैं, और पिछले तीन सदृश विधानात्मक हैं।

विदेशी आक्रमणकारियोंने भारतकी संस्कृतिको नष्ट करनेके लिये समय-समयपर क्या-क्या नहीं किया? यदि भारतीय भारती-भण्डार, साहित्य-राशि अबतक अक्षुण्ण होती, यदि आक्रमणकारी यवनोंने उसे भस्मसात् न कर डाला होता, और यदि बचे हुए अवशेषको योरोपीय जिज्ञासुओंने अपहरण न कर लिया होता, तो संभव था कि भारतमें सदृश-विधानात्मक चिकित्सा-प्रणाली ही प्रधान होती, और आज इस बातके प्रमाणकी आवश्यकता ही न पड़ती कि जगद्गुरु भारतको इस परमोपयोगी चिकित्सा-विधानके प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक नियमोंका ज्ञान था। जिस राष्ट्रकी संस्कृतिको विनष्ट करनेके लिये विदेशी आक्रमण-कारियोंद्वारा बर्बरतापूर्ण विध्वंसात्मक ताण्डव किया गया हो, उसके ध्वंसावशिष्ट साहित्यमें, यदि, किसी विज्ञानका आभास मिले, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि ध्वंसलीलाके पूर्व वह राष्ट्र उस विज्ञानसे परिचित था। बहुत संभव है कि उस विज्ञानका विकास भी उस राष्ट्रने कभी किया हो। अतः यह अनुमान करना कदापि अनुचित न होगा कि जर्मनीमें सदृश-विधानके आविष्कृत होनेके अनेक सहस्राब्दियों पूर्व जगद्गुरु

भारतमें सदृश-विधानात्मक चिकित्सा न केवल आविष्कृत किन्तु पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। भारतके लिये सदृश-विधान कोई नूतन चिकित्सा विधान नहीं है। यदि भारतीय आयुर्वेद उपर्युक्त ध्वंसलीलासे बचा रहता, तो इस प्रकार अनुमान-प्रमाणकी कोई आवश्यकता न पड़ती। जगद्गुरु भारतमें ही प्रायः समस्त विद्याओंका जन्म और विकास हुआ। यहींसे संसारके मानवोंने शिक्षा ग्रहण की, जैसा कि सहस्रों वर्ष पूर्व मनुसंहितामें लिखा गया था—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वंस्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इस देशके ब्राह्मणोंसे ही पृथ्वीके सब मनुष्योंने अपना-अपना चरित्र सीखा; अर्थात् विद्या, सभ्यता आदिके लिये भारत ही संसारका गुरु है। यहींसे शिक्षा प्राप्त करके समस्त संसारके मानव, विद्वान् और सभ्य हुए।

भारतीय संस्कृतिसे सदृश विधानका जितना घनिष्ट संबन्ध है उतना संसारकी किसी अन्य संस्कृतिसे कदापि नहीं हो सकता। भारतमें ही आध्यात्मिकवादने चरमसीमाकी उन्नति की। भारतीय संस्कृतिमें सर्वत्र आध्यात्मिकताकी पृष्ठभूमि वर्तमान है। भारतीय विचारधारा जिस दिशामें प्रवाहित हुई आध्यात्मिकताको अपने साथ लेती गई। भारतके समाज-संघटनमें, शिक्षा-प्रणालीमें, विभिन्न ज्ञान-विज्ञानसम्बन्धी शास्त्रोंमें, जन्मसे मरण-पर्यन्तके संघर्षोंमें, शासन-व्यवस्थामें, अर्थमें, काममें, कहाँतक गिनाया जाय, रणाङ्गणमें भी आध्यात्मिकवादने कभी साथ नहीं छोड़ा। इसी कारण भारतीय दर्शनका जिसे कुछ भी बोध हो, उसके लिये सदृश-विधानके सिद्धान्तोंको हृदयंगम करना कदापि

कठिन नहीं हो सकता। भौतिकवादी ही इसे सन्देहकी दृष्टिसे देखते हैं। उनकी दृष्टि इतनी स्थूल होती है कि वे सदृश-विधानके दार्शनिक सूक्ष्म-शरीर-सम्बन्धी सिद्धान्तोंको समझ ही नहीं सकते। सदृश-विधानके प्रति उनके सन्देह और द्वेषका यही मूल कारण प्रतीत होता है।

यदि यह भी स्वीकार कर लिया जावे कि सदृश विधान अभारतीय है, तो भी उसे अपनानेमें, उसका भारतीयकरण करनेमें कोई आपत्ति अथवा हानि नहीं हो सकती। प्रकृतिके नियमोंका आविष्कार चाहे जिस देशमें हुआ हो, चाहे जिस राष्ट्रने किया हो, उसके द्वारा लाभान्वित होनेका अधिकार संसारके सब देश और सब राष्ट्रके लिये समान रूपसे होता है। प्राकृतिक सत्य किसी राष्ट्रकी अथवा किसी देशविशेषकी बपौती नहीं हो सकती। पृथ्वीकी आकर्षण-शक्तिका पता चाहे जिसने लगाया हो, गणितके सिद्धान्तोंका आविष्कर्ता कोई भी रहा हो, विद्युत्-शक्तिके उपयोगका सूत्रपात चाहे जिस देशमें हुआ हो, वाष्प-शक्तिका प्रथम प्रदर्शन चाहे जिसने किया हो, परन्तु संसारके सब मानव-समाजको, सब राष्ट्रको, सब देशको उन सत्योंका, उन नियमोंका, उन तथ्योंका उपयोग करनेका समान अधिकार है, और वे सत्य, वे नियम एवं वे तथ्य सबके लिये समान रूपेण हितकारी होते हैं। इसमें सन्देह हो ही नहीं सकता।

प्राकृतिक नियमों और सत्योंके प्रति अवहेलना करना, साम्प्रदायिकताकी संकुचित मनोवृत्तिके कारण उन्हें उपादेय न मानना, वरन् उनकी अवज्ञा करके उन्हें राष्ट्रके हितसाधनमें यथोचित स्थान न देना कदापि तर्कसंगत नहीं है।

इस प्रकार, सदृश विधान अब भी भारतमें उपेक्षाका ही पात्र

बना है। सदृश विधानके अनेक चिकित्सक इस विधानके सिद्धान्तोंसे पूर्णतया परिचित नहीं हैं। उनका सम्यक् ज्ञान तो कतिपय चिकित्सकोंमें ही पाया जाता है। यह अभाव भी किसी सीमातक सदृश विधानके प्रति उपेक्षाका कारण है।

चिकित्सा अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। चिकित्सकको अपने चिकित्सा-विधानके सिद्धान्तोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ही चिकित्सा करनी चाहिये, अन्यथा उनका चिकित्सा-कार्य रोगीके जीवनका खेल हो जाता है। सदृश विधानके चिकित्सकोंमें इस समय अनेक ऐसे पाए जाते हैं जिन्हें इस चिकित्सा-प्रणालीके सिद्धान्तोंका पूर्ण बोध नहीं होता। सिद्धान्तोंके पूर्ण ज्ञानसे वंचित चिकित्सकोंके कारण भी अब तक भारतमें इस लोकोपकारी श्रेष्ठ चिकित्सा-पद्धतिको राजमान्यता प्राप्त नहीं हो सकी। यदि जनताकी श्रद्धा सदृश विधानपर सुदृढ हो जावे, तो अब जन-तन्त्रात्मक भारतमें उसे राजमान्यता प्राप्त होनेमें विलम्ब नहीं लग सकता। परन्तु इस विधानपर लोकश्रद्धाको सुदृढ़ कराना अथवा न कराना चिकित्सकोंकी सामूहिक कार्यकुशलतापर निर्भर है। यह कार्यकुशलता सिद्धान्तोंके ज्ञानसे और उनको चिकित्साकार्यमें अक्षरशः पालन करनेसे ही प्राप्त होती है। सदृश विधानके जिन चिकित्सकोंको सदृश विधानके सिद्धान्तों-का पूर्ण ज्ञान है, और जो चिकित्सा करनेमें उन सिद्धान्तोंका भली भाँति पालन करते हैं उन्हींकी चिकित्सासे अद्भुत और चमत्कारी रोगमुक्तियाँ सम्पादित होती हैं, जिनसे जनता नित्य-प्रति सदृश विधानकी ओर आकर्षित भी होती है, तथा उसपर श्रद्धा और विश्वास करनेको बाध्य होती है। ऐसे ही चिकित्सक सदृश विधानके सच्चे चिकित्सक हैं।

वास्तवमें सिद्धांतोंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त किए बिना, किसीको

(सदृश विधानात्मक) चिकित्सा करनेका अधिकार ही नहीं हो सकता और होना भी नहीं चाहिए। चिकित्साकासम्बन्ध रोगियोंके जीवन-मरणसे तो प्रत्यक्ष होता ही है, प्रत्युत यदि संसारमें नहीं, तो परलोकमें चिकित्सकको उसका उत्तरदायित्व भी वहन करना पड़ता है।

अंग्रेजी भाषा जानने ही वालोंके लिये नहीं, वरन् अंग्रेजी भाषाके प्रौढ़ विद्वानोंके लिये तो, आर्गेनन आफ मेडिसिन नामक, अंग्रेजी ग्रन्थ सदृशविधानके सिद्धान्तोंके ज्ञानका सर्वोत्तम साधन है। सदृशविधानके विकासकर्ता महात्मा सैमुएल हैनिमैनने इस मूल सिद्धान्त ग्रन्थको जर्मन भाषामें लिखा था। उनके जीवन-कालमें इसके पांच संस्करण हो गए। छठे संस्करणके लिये उन्होंने पांचवें संस्करणकी एक प्रतिको संशोधित कर लिया था। परन्तु उसे प्रकाशित करनेके पूर्व ही उनको अपनी ऐहलौकिक लीला समाप्त करके परलोकयात्रा करनी पड़ी। उसके पश्चात् छठा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसका अंग्रेजी भाषान्तर अमेरिकाके प्रसिद्ध प्रकाशक बोरिक एण्ड टेफलने १६३५ में प्रकाशित किया। उसीके आधारपर प्रस्तुत पुस्तककी रचना की गई है।

यद्यपि भारतमें कतिपय प्रकाशकोंने उपर्युक्त आर्गेनन आफ मेडिसिन नामक सदृशविधानके सिद्धान्तग्रन्थको हिन्दीमें भाषान्तर करके प्रकाशित किया है, तथापि अबतक जो भाषान्तर मेरी दृष्टिमें आए वे सब ऐसे हैं जिनसे जिज्ञासुओंको सदृश विधानके मूल सिद्धान्तोंका निर्भ्रान्त बोध नहीं हो सकता, यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ यहाँ दो-एक ऐसे संस्करणोंसे २६ वें सूत्रके भाषान्तरका उद्धरण किया जाता है। यह सूत्र अंग्रेजी भाषामें इस प्रकार है:—

"This depends on the following homœopathic law of nature which was sometimes, indeed, vaguely surmised but not hitherto fully recognised, and to which is due every real cure that has ever taken place

A weeker dynamic affection is permanently extinguished in the living organism by a stronger one, if the latter (whilst differing in kind) is very similar to the former in its manifestations."

"हिन्दी अमेरिकन आर्गेनन"[१] नामक पुस्तकमें इसका हिन्दी भाषान्तर इस प्रकार किया गया है :—

"यह होमियोपैथिकके नैसर्गिक-विधान (Law of nature) के आधार पर अवलम्बित है जो प्रत्येक Real Cure की आधार शिला है हालाँ कि अभीतक बहुतसे सशंक व्यक्तिके द्वारा अमान्य था। वह कानून या विधान यह है कि प्रत्येक जीवित शरीरमें कई कारणोंसे सदृश लक्षण युक्त रोग एकत्र होते हैं तब उनमेंसे जो सबल रहता है वह दुर्बलको समूल नाश कर देता है बशर्ते कि वह उन्हीं लक्षणोंसे युक्त हो। अत दवामें रोगके समान लक्षण हों और साथ-साथ उसकी शक्ति रोगकी शक्तिसे अधिक हो।"

'आर्गेनन' नामक पुस्तकमें[२] उपर्युक्त सूत्रका भाषान्तर इस प्रकार किया गया है :—

"यह निम्नलिखित होमियोपैथिक प्राकृतिक नियमपर ही

---

१ प्रकाशक, सिन्हा एण्ड कम्पनी, लहरियासराय, (दरभंगा)।
२ प्रकाशक, एम भट्टाचार्य एण्ड को०, कलकत्ता।

निर्भर करता है। इस नियमको अवतक लोगोंने संदेहकी ही दृष्टिसे देखा है किसीने भी इसे सम्पूर्ण रूपसे मान नहीं लिया। अर्थात्—

"शरीरमें अदृश्य कारणसे उत्पन्न यदि दो एक ही प्रकारकी बीमारियोंके लक्षण हों, तो जो अधिकतर बलवान होगा वह सम-लक्षणवाले दुर्बल रोगको बिलकुल ही नष्ट कर देगा।"

साधारण दृष्टिसे उपर्युक्त दोनों भाषान्तर भले ही ठीक प्रतीत होते हों, परन्तु यदि विवेकपूर्ण दृष्टिसे विचार किया जावे, तो अंग्रेजी मूलमें जिस भावका प्रदर्शन किया गया है उसकी निर्भ्रान्त अभिव्यक्ति दोनोंमेंसे किसीमें नहीं पायी जाती। इतना ही नहीं, वरन् जिस आधारभूत प्राकृतिक नियमका वर्णन अंग्रेजीमें स्पष्टतया किया गया है उसके एक महत्वपूर्ण अंगकी उपर्युक्त दोनों भाषान्तरोंमें पूर्ण उपेक्षाकी गई है। उक्त प्राकृतिक नियम यही है कि एक प्राकृतिक रोग दूसरे प्राकृतिक रोगको तभी नष्ट कर सकता है, जब दोनों प्राकृतिक रोग प्रकारतः तो भिन्न हों, किन्तु दोनोंके लक्षणोंमें निकटतम सादृश्य हो, और एक दूसरेसे बलवत्तर हो। ऐसी परिस्थितिमें ही बलवत्तर रोग दूसरे रोग को नष्ट कर देता है। लक्षण सादृश्यकी ओर एकके बलवत्तर होनेकी चर्चा तो दोनों भाषान्तरोंमें की गई है, किन्तु दोनों रोगोंके प्रकारतः भिन्न होनेकी आवश्यकता किसीमें प्रकट नहीं की गई। अंग्रेजी आर्गेननमें इस बातको "Whilst differing in kind" से व्यक्त किया गया है।

प्राकृतिक नियमके इस महत्वपूर्ण अङ्गकी उपेक्षा ही उक्त भाषान्तरोंमें नहीं की गई है, वरन् उनमेंसे एक—अर्थात् एम० भट्टाचार्य एण्ड को० द्वारा प्रकाशित 'आर्गेनन'—तो इस सम्बन्ध-में यहाँ तक भ्रान्त है कि वह इसके ठीक विपरीत भावको व्यक्त

करता है। भाषान्तरमें कहा गया है कि दोनों रोगोंको एकही प्रकारका होना चाहिए !!!

ऐसे भाषान्तरोंसे केवल यही नहीं होगा कि उनसे पाठकों तथा जिज्ञासुओंको सदृश विधानके सिद्धान्तोंका निर्भ्रान्त बोध न हो सकेगा, वरन् भ्रान्त और सर्वथा भ्रान्त बोध होगा। चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तोंके भ्रान्त बोधसे कैसे दुष्परिणामों की आशंका ही नहीं—सम्भावना भी हो सकती है पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

इस पुस्तकके प्रणयनकी आवश्यकताको व्यक्त करनेके लिये ही, न कि किसी लेखक अथवा प्रकाशकका दोष प्रदर्शन करनेके लिये, उपर्युक्त आलोचना करनी पड़ी। सदृश विधानके सिद्धान्तों का यथार्थ बोध करानेवाली रचनाका हिन्दी भाषाके साहित्यमें अभाव था। उसे दूर करनेके अभिप्रायसे प्रस्तुत पुस्तककी रचना की गई है। इसमें 'आर्गेनन आफ मेडिसिन' के प्रत्येक सूत्रके भावको हिन्दीमें अविकल रूपेण व्यक्त करनेका प्रयास किया गया है। यह प्रयास कहाँतक सफल हुआ है चिकित्सा जगत् ही निर्णय कर सकेगा। यद्यपि इस बातपर विशेष ध्यान दिया गया है कि भाषा सरल और बोधगम्य हो, तथापि विषय की गम्भीरताके कारण एवं निश्चित अर्थको व्यक्त करनेके अभिप्रायसे प्रचलित पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग कहीं-कहीं अनिवार्य हो गया है। कई सूत्रोंपर महात्मा हैनिमैनने टिप्पणी लिखकर सूत्रोंको स्पष्ट किया है। उन सब टिप्पणियोंको यथा-स्थान हिन्दीमें व्यक्त करके मूल सूत्रके भावको स्पष्ट कर दिया गया है। होमियोपैथिक चिकित्सा विज्ञान नामक ग्रन्थ[1] जो

[1] लेखककी यह रचना श्रीकृष्ण होमियोपैथिक औषधालय, काठकी दवेली, बनारससे प्राप्य है।

पहले ही प्रकाशित हो गया है इन सूत्रसमूहका भाष्य ही है। अतएव सदृश विधानके सिद्धांतोंको भली भांति हृदयंगम करनेके लिये प्रस्तुत पुस्तकके साथ उक्त चिकित्सा-विज्ञानका भी अनुशीलन करना चाहिए।

इस ग्रन्थमें २९१ सूत्र हैं। प्रथम ७० सूत्रोंमें सदृशविधानके आधारभूत सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है। ७१ सूत्रसे १०४ सूत्रपर्यन्त यह बतलाया गया है कि रोग मुख्यतः कितने प्रकारके होते हैं, तथा रोगीकी परीक्षा किस विधिसे करनी चाहिए। प्रत्येक रोगीकी रोगमूर्तिको स्थिर करनेके लिये रोगीके लक्षणोंका संकलन किस प्रकार करना चाहिये इसका भी निर्देश इन्हीं सूत्रोंमें पाया जाता है। तदनंतर १०५ सूत्रसे १४५ सूत्रपर्यन्त औषध-परीक्षाकी विधि तथा औषधजन्य रोगमूर्तियोंको स्थिर करनेकी विधिका निरूपण किया गया है। १४६ सूत्रसे २८५ सूत्रपर्यन्त रोगोंकी चिकित्सा करनेके लिये औषध-शक्तियोंके समुचित प्रयोगकी विधि बतलाई गयी है। शेष अन्तिम ६ सूत्र उपसंहारात्मक हैं, और उनमें कतिपय औपचारिक चिकित्सा-साधनोंका वर्णन किया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस सैद्धान्तिक ग्रन्थको आदिसे अन्तपर्यन्त ध्यानपूर्वक मनन करनेसे यह निश्चय हो जाता है कि सदृश-विधानके नियम प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक सत्य हैं, तथा इस विधानद्वारा चिकित्सा होने पर वास्तविक रोगमुक्ति उतनी ही ध्रुव और निश्चित होती है जितने ध्रुव और निश्चित प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक सत्य होते हैं। एक और एक का जोड़ जिस प्रकार दो ही होता है, दिनके पश्चात् जिस प्रकार रात्रि ही होती है, उसी प्रकार रोगी और औषधकी रोगमूर्तियोंमें निकटतम सादृश्य होने पर रोगमुक्ति भी ध्रुव हो जाती है। हाँ, प्रतिबंध केवल यह,

है कि इस विधानके सिद्धान्तोंके अनुसार औषधका समुचित प्रयोग किया जाना चाहिए। ऐसे उत्तम चिकित्सा-विधानके सिद्धांतोंके प्रणेता महात्मा सेमुअल हैनिमैनके हम ही नहीं मानवतामात्र कृतज्ञ रहेगी।

रोगीको इससे अधिक क्या वाञ्छनीय हो सकता है कि वह अत्यंत कष्टरहित विधिसे तथा अत्यंत शीघ्र वास्तवमें रोगमुक्त हो जावे? चिकित्सकको भी इससे अधिक क्या अभीष्ट हो सकता है? और मेरा भी उद्देश्य इस ग्रन्थको चिकित्साजगत्‌की सेवामें प्रस्तुत करते हुए एतावन्मात्र ही है। यदि इस ग्रन्थके मननसे चिकित्सक एक भी चिर रोग-पीड़ित व्यक्तिको वास्तविक रोगमुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ होसकें तो मैं अपना श्रम सफल मानूंगा। एवमस्तु।

काशी, रामनवमी
सं० २००७ वि०

बालकृष्ण मिश्रः

विषय-सूची

सूत्र विषय

सूत्र विषय

का अर्थात् आंतरिक और बाह्य समस्त रोगका नाश हो जाता है।

१३—रोगको शरीरके भीतर छिपा हुआ कोई भौतिक पदार्थ मानना ही एलोपैथीका दोष है।

१४—रोगजन्य समस्त साध्य विकार लक्षणों द्वारा प्रकट हो जाता है।

१५—जैवशक्तिकी दुरवस्था एवं उससे उत्पन्न हुए लक्षण दोनों एक दूसरेसे अभिन्न हैं।

१६—रोगजनक हेतुओंके चिन्मय प्रभावसे ही आध्यात्मिक जैवशक्ति दुर्व्यवस्थित हो सकती है, तथा इसी प्रकार औषध-शक्तिके चिन्मय प्रभावद्वारा ही जैवशक्ति पुन स्वस्थ हो सकती है।

१७—लक्षणसमुच्चयके नष्ट हो जानेसे सपूर्ण रोग नष्ट हो जाता है।

१८—लक्षणसमुच्चय ही औषध-निर्वाचनका एकमात्र आधार है।

१९—औषध स्वास्थ्यमें परिवर्तन कर सकती है, इसीलिये रोगीके परिवर्तित स्वास्थ्यको वह ठीक भी कर सकती है, अन्यथा कदापि नहीं।

२०—स्वस्थ व्यक्तियोंपर प्रयोग करनेसे ही औषधोंकी स्वास्थ्य-परिवर्तनकारी शक्तिका परिचय मिल सकता है।

२१—स्वस्थ व्यक्तियोंमें औषध-प्रयोगसे जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हींके द्वारा हमें उनकी रोगनाशक शक्तिका परिचय मिलता है।

२२—यदि अनुभव यह सिद्ध करे कि रोगलक्षणोंके सदृश

सूत्र विषय

लक्षणोंको उत्पन्न करनेवाली औषध रोगको शीघ्र, निश्चयपूर्वक और समूल नष्ट कर सकती है, तो रोगका नाश करनेके लिये सदृश लक्षण उत्पन्न करनेवाली औषधका निर्वाचन करना चाहिए; परंतु यदि अनुभवद्वारा यह प्रमाणित हो कि रोगलक्षणोंके विपरीत लक्षणोंको उत्पन्न करनेवाली औषधसे रोग शीघ्र, निश्चयपूर्वक और समूल नष्ट होता है, तो रोग-नाश करनेके लिये विपरीत लक्षण उत्पन्न करनेवाली औषधका निर्वाचन करना चाहिए।

२३—विपरीत विधानद्वारा चिररोग-लक्षणोंका नाश नहीं होता।

२४—अतएव सदृश विधान ही सर्वदा हितकारी चिकित्सा-विधान हो सकता है।

२५—रोगलक्षणोंके सदृश लक्षणोंको उत्पन्न करनेवाली औषधसे ही रोगमुक्ति होती है।

२६—चिकित्सासंबन्धी प्राकृतिक नियम ही सदृश विधान-का आधार है।

२७—अतएव औषधोंकी रोगनाशक सामर्थ्य, रोगलक्षणोंके सदृश लक्षणोंको उत्पन्न कर सकनेकी क्षमतापर ही, निर्भर है।

२८-२९—चिकित्सासंबंधी उपर्युक्त प्राकृतिक नियमका स्पष्टी-करण तथा वैज्ञानिक विवेचन।

३०—मानव शरीर रोगोंसे उतना प्रभावित नहीं होता जितना औषध-शक्तियोंसे हो सकता है।

असदृश पुराना रोग केवल स्थगित रहता है, किन्तु कभी सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता।

३९—इसी प्रकार, रोगलक्षणोंके सदृश लक्षणोंको उत्पन्न करनेमें असमर्थ एलोपैथिक उग्र औषध चिर रोगको नष्ट नहीं कर सकती। जबतक उन औषधोंका प्रभाव रहता है, रोग केवल स्थगित रहता है, तत्पश्चात् वह पूर्व दशामें, अथवा और भी जटिल दशामें, पुन प्रकट हो जाता है।

४०—(३) अथवा, नवीन रोग, शरीरयन्त्रपर अपनी क्रिया दीर्घ कालतक करते-करते, अतमें पुराने असदृश रोगका साथी बन जाता है, और दोनों रोगोंके योगसे द्विगुण (जटिल) रोग हो जाता है। असदृश होनेके कारण दोनों एक दूसरेको हटा नहीं सकते।

४१—दो अथवा अधिक प्राकृतिक रोग एकही शरीर-यन्त्रमें एक साथ होकर रोगीकी दशाको कभी-कभी जटिलकर देते हैं, परन्तु अनुपयुक्त एव उग्र एलोपैथिक औषधोंके दीर्घकालीन सेवनसे तो रोगीकी दशा प्राय जटिल हो जाया करती है। औषधजन्य असदृश कृत्रिम रोग मूल रोगका साथी बन जाता है और रोगीको दुहरा रोग भोगना पड़ता है।

४२–एक-दूसरेको इस प्रकार जटिल कर देनेवाले रोग, आपसम असदृश होनेके कारण ही, शरीर-

सूत्र विषय

विधानात्मक चिकित्सा हो सकती है। परतु वे प्राकृतिक उपचार असुविधापूर्ण होते हैं।

५१—परंतु चिकित्सकोंके अधीन असंख्य औषध हैं, जिनके द्वारा चिकित्सा करनेमें (प्राकृतिक रोगों-की अपेक्षा) बहुत अधिक सुविधा भी होती है।

५२—रोगमुक्तिके दो ही मुख्य विधान हैं, यथा — सदृश विधान अर्थात् होमियोपैथी और असदृश विधान अर्थात् एलोपैथी। दोनों एक दूसरेसे विपरीत हैं; न तो उनमें समानता है, और न वे एक दूसरेके साथ मिल सकते हैं।

५३—प्राकृतिक अमोघ नियममूलक सदृश विधान ही चिकित्साका एकमात्र सर्वोत्तम विधान सिद्ध होता है।

५४—एलोपैथिक विधानके अतर्गत एक-दूसरेका अनु-करण करती हुई भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ प्रकट हुईं, और सबने अपनी प्रणालीको तर्कयुक्त प्रणाली घोषित किया। परतु एलोपैथिक विधानके अनुसार सबने रोगोंको दूषित भौतिक पदार्थ ही माना और उनका वर्गीकरण किया, तथा अनु-मानोंके आधारपर और मिश्रित औषधोंके प्रयोगका आदेश देनेवाले विधिपत्रोंके आधारपर ही भेषज-लक्षण संग्रहको प्रस्तुत किया।

५५-५६—इस हानिकारक चिकित्सा विधानके (एलोपैथीके) चिकित्सकोंके पास अस्थायी उपकार करनेवाले

सूत्र विषय

सूत्र　　　विषय

सूत्र विषय

विभिन्न अङ्गोंकी क्रियाके सम्बन्धमें कुछ न बतलाया हो तो प्रश्न करके स्पष्ट कर लेना चाहिए।

८९—रोगीका कथन पूरा हो जानेपर भी यदि किसी विषयमें सन्देह रह जावे, तो पुन प्रश्न करके उसे स्पष्ट कर लेना चाहिए।

९०—रोगीका निरीक्षण स्वय करके चिकित्सक उसकी विचित्रताओंको भी लिख लेवे।

९१—किसी अन्य औषधके सेवन करते समय जो लक्षण प्रकट होते हैं वे रोगके वास्तविक लक्षण नहीं होते।

९२—यदि रोग भयकर हो और शीघ्र बढ रहा हो, तो पूर्व औषधोंके सेवनसे रोगीकी दशा परिवर्तित हो जानेपर भी, रोगीके वर्तमान लक्षणोंको आधार बनाकर औषध देना चाहिए।

९३—रोगके विशेषकारणका भी पता सावधानीसे लगा लेना चाहिए।

९४—चिर रोगोंके विषयमें अनुसन्धान करते समय रोगीकी विशेष परिस्थितियोंका भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

९५—चिर रोगोंके अनुसन्धानमें अत्यन्त नगण्य रोग लक्षणोंको भी लेखबद्ध कर लेना चाहिए। वे महत्त्वपूर्ण होते हैं।

९६—रोगियोंका स्वभाव भी कई प्रकारका होता है,

सूत्र विषय

⊱•⊰

होमियोपैथिक

चिकित्सा-सिद्धान्त

—⋙⁂⋘—

रोगी की रोगमुक्ति ही चिकित्सकका मुख्य लक्ष्य है ।

१—अस्वस्थको स्वस्थ करना अर्थात् रोगीको रोगसे मुक्त करना ही चिकित्सकका मंगलमय प्रधान उद्देश्य है[1] ।

१—शरीरयन्त्रका सञ्चालन जैवशक्ति करती है । यह अदृश्य होती है, और उसमें जो दुःखद परिवर्तन अथवा विकार होते हैं वे ही वास्तवमें रोग हैं । इस प्रकार, वास्तवमें, रोग अदृश्य और अगोचर होते हैं । अदृश्य अगोचर शक्तिका परिवर्तन अथवा विकार भी अदृश्य अगोचर ही होता है । परन्तु रोगोंके विषयमें निराधार कल्पनाएँ होती आई हैं । ऐसा अनुमान किया जाता है कि रोग कोई दृश्य अथवा भौतिक पदार्थ होता है । ऐसी निराधार कल्पनाओंकी भित्तिपर चिकित्सा-विधिको स्थिर करना, और गूढ़ार्थ, भीमकाय शब्दोंमें उनके नामोंकी कल्पना करना चिकित्सकका कर्तव्य नहीं है । अबतक (महात्मा हैनिमैनके समय तक) चिकित्सकों ने अपनी बुद्धिका अपव्यय इसी प्रकार किया । इससे रोगपीड़ित जनताका वास्तवमें कुछ भी उपकार नहीं हुआ ।

एक ओर तो, रोगपीड़ित जनता कष्टसे सिसकती है, दूसरी ओर, चिकित्सा संबन्धीशिक्षाकी संस्थाओंमें उपर्युक्त व्यर्थ अनुमानोंकी शिक्षा-

आदर्श रोगनाश

२—सुगम सिद्धान्तोंके अनुसार रोगीको शीघ्र, सुखपूर्वक और स्थायीरूपसे रोगमुक्त कर देना, अथवा, अत्यन्त अल्प समयमें अत्यन्त विश्वसनीय एवं अत्यन्त हानिरहित विधिसे रोगको मूलतः (जड़से) हटा देना और नष्ट कर देना सर्वोत्तम रोगनाश है।

सच्चे चिकित्सकको किन बातोंका ज्ञान अवश्य होना चाहिए ?

३—सच्चा चिकित्सक वही है जिसे अधोवर्णित बातोंका स्पष्ट बोध हो। वही युक्ति-युक्त और विचारपूर्ण चिकित्सा कर सकता है।

(अ) रोगोंमें (प्रत्येक प्रस्तुत रोगीमें) चिकित्सायोग्य क्या है ? अर्थात् किसका नाश कर देनेसे रोगी रोगमुक्त हो सकता है ? [रोग तथा रोग-लक्षणोंका ज्ञान]

(आ) औषधोंमें (प्रत्येक औषधमें) रोगनाशक तत्त्व क्या है ? [औषधकी शक्तियोंका ज्ञान]

(इ) सुनिश्चित सिद्धान्तोंके अनुसार, औषधोंकी रोगनाशक शक्तियोंका, रोगीमें पाए गए असंदिग्ध रोगलक्षणोंके साथ, इस

पर अपरिमित व्यय किया जाता है। रोगपीड़ित जनताको शब्दाडम्बर-मात्रसे धोखा देनेके अतिरिक्त इसका परिणाम और हो ही क्या सकता है ? अब समय आगया है कि चिकित्सक इस आडम्बरको समाप्तकर रोगपीड़ित जनताके वास्तविक कष्टनिवारण-कार्यमें प्रवृत्त हो जावें।

प्रकार समन्वय करनेका ज्ञान हो कि प्रस्तुत रोगीके लिए औषध-क्रियाका विचार करते हुए जिस परम उपयुक्त औषधका निर्वाचन किया जावे उससे रोगमुक्ति अवश्यमेव हो जावे। [उपयुक्त औषधके निर्वाचन की विधिका ज्ञान]

(ई) औषध बनानेकी विधि क्या है और उसकी मात्रा कितनी होनी चाहिए ? [उचित मात्राका ज्ञान]

(उ) मात्राका पुन प्रयोग कब किया जाना चाहिए ? [पुन प्रयोगके समयका ज्ञान]

(ऊ) प्रस्तुत रोगीके रोगमुक्त होनेमें कैसी बाधाएँ हो सकती हैं और उनके निराकरणकी विधि क्या है ? [रोगमुक्ति में बाधाओंका तथा उनके निराकरणका ज्ञान]

चिकित्सक स्वास्थ्यरक्षक भी होते हैं।

४—स्वास्थ्यको दुर्व्यवस्थित करनेवाले तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले कारणोंको जो चिकित्सक जानते हैं वे स्वास्थ्यकी रक्षा भी कर सकते हैं।

उत्तेजक कारणका तथा मुख्य कारणका अनुसंधान करना और अन्य परिस्थितियोंका विचार करना चिकित्सामें सहायक होता है।

५—निकटतम उत्तेजक कारणके अनुसंधानसे चिकित्सकको आशु रोगोंकी चिकित्सा करनेमें सहायता मिलती है। चिर रोगोंकी चिकित्सामें, रोगका इतिहास मुख्य कारणके अनुसंधानमें उपयोगी होता है। रोगोंका मूल कोई-न-कोई चिर रोगबीज ही प्राय होता है। ऐसे अनुसंधान करनेमें रोगीकी प्रकृति (विशेषत

चिर रोगमें), उसका नैतिक एवं बौद्धिक बल, व्यवसाय, दिन-चर्या, सामाजिक एवं वैयक्तिक संबन्ध, वयस, तथा जननेन्द्रिय-की क्रिया आदिका भी विचार करना आवश्यक है।

लक्षणसमूह ही चिकित्सककी दृष्टिमें रोग है।

६—निष्पक्ष परीक्षककी दृष्टिमे निराधार कल्पनाओंका कोई महत्त्व नहीं होता, कारण कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे ऐसे अनुमानों-की पुष्टि नहीं हो सकती। अतएव बुद्धिमान परीक्षक रोगीके स्वास्थ्यसंबन्धी परिवर्तनोंके अतिरिक्त, उसके मानसिक एवं शारीरिक परिवर्तनोंके अतिरिक्त, अर्थात् विकारों, घटनाओं और लक्षणोंके अतिरिक्त, किसी दूसरी बातपर ध्यान नहीं देते। रोगीके स्वास्थ्यसंबन्धी उन विकारोंका ही वे विचार करते हैं जिनका रोगी स्वय अनुभव करता है, जिन्हें रोगीके पास रहने-वाले बतलाते हैं, और जिनको रोगीमे चिकित्सक स्वयं प्रत्यक्ष करता है। इन सब प्रत्यक्ष लक्षणोंका समूह ही रोगका प्रतीक होता है, अर्थात् लक्षणसमूह ही रोगकी एकमात्र कल्पनीय मूर्ति होती है[1]।

१—एलोपैथिक चिकित्सकोंकी परीक्षा विधिमे रोगोंके लक्षणोंकी ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। केवल स्थूल शरीरकी परीक्षा करके व्यर्थ ही यह मान लिया जाता है कि रोगीके अदृश्य आन्तरिक भागमें जो परि-वर्तन हो गया है उसे वे समझ गए। उस अदृश्य विकारको वे ऐसी औषधोंसे सुधारनेका प्रयत्न करते हैं जिनके गुण-दोष अज्ञात हैं। इससे अधिक आत्मवंचना और क्या हो सकती है।

जैवशक्ति तो अदृश्य वस्तु है। विकृत हो जाने पर यही रोग-परिणामोंको जन्म देती है। लक्षणोंद्वारा ही जैवशक्तिकी विकृत दशा-

अतिरिक्त उनमें कोई दूसरी वस्तु नहीं पाई जा सकती। अतएव चिर रोगीबीजकी सम्भावनाका तथा अतिरिक्त परिस्थितियों-का विचार करते हुए (सूत्र ५), रोगलक्षण ही चिकित्साके आधार हो सकते हैं। लक्षणोंका समुच्चय ही रोगका आन्तरिक सार है। लक्षणसमुच्चय ही जैवशक्तिके आन्तरिक विकारका वाह्य प्रतिबिम्ब है। लक्षणोंद्वारा ही रोग उपयुक्त औषधकी आवश्यकताको प्रकट करता है। इस कार्यके लिये रोगके पास कोई दूसरा साधन नहीं होता। अतएव रोगीको रोगमुक्त और स्वस्थ करनेके लिये चिकित्सकको लक्षणसमुच्चयपर[1] ही अपना

हो जाती हो, तो उस गंधयुक्त पदार्थको तुरन्त हटवा देना चाहिए। रोगी बिना औषधके ही रोगमुक्त हो जायगा। यदि नेत्रमें किरकिरी पड़ जानेके कारण नेत्रप्रदाह हो रहा हो, और रोगी कष्ट पा रहा हो, तो किरकिरी-को निकाल देना ही उसे स्वस्थ कर देनेके लिये पर्याप्त हो जाता है। यदि कटेफटे, चोट-लगे भागपर पट्टी कसकर बँधी हो, और रक्तसंचारको रोक रही हो, जिसके कारण वह आहत भाग मृतवत् हो रहा हो, तो उस पट्टीको तुरन्त हटवाकर सुखद पट्टी बँधवा देनी चाहिए। यदि नाड़ी कट गई हो, तथा अधिक रक्तपात होनेके कारण मूर्च्छा हो रही हो, तो नाड़ी-को जोड़कर टाका लगा देना चाहिए। यदि नाक, कान आदिमें कोई वाह्य पदार्थ घुस गया हो, तो उसे निकाल देना चाहिए। पथरीको यन्त्र-द्वारा चूर्ण कर देना चाहिए। नवजात शिशुका मलमार्ग यदि बन्द हो, तो उसे खोल देना चाहिए। इत्यादि।

१—पुरानी (एलोपैथिक) चिकित्सापद्धतिके अनुयायी चिकित्सक रोगीके कष्टको सर्वथा दूर करनेमें तो असमर्थ ही होते थे। वे रोगसे लड़नेका, और जहां संभव हो, रोगीके किसी अति कष्टप्रद लक्षणको दबाने-का प्रयत्न करते थे। इस प्रकारकी लाक्षणिक चिकित्सा एकांगी ही होती

ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, और अपनी चिकित्साकराद्वारा लक्षणसमुच्चयको ही नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

लक्षणोंका नाश हो जानेसे आन्तरिक दुर्व्यवस्था भी नष्ट हो जाती है।

८—रोगके सब लक्षणोंका नाश हो जानेपर, तथा रोगीके प्रकट विकार-समूहका अन्त हो जानेपर, रोगी रोगमुक्त हो जाता है, और व्याधिजन्य आन्तरिक परिवर्तन भी समूल नष्ट हो जाता है[1]। इसके विपरीत किसी प्रकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

थी। उससे रोगीका उपकार तो कभी होता नहा था, वरन् अपकार ही अधिक होता था। अतएव उस चिकित्सासे जनताको घृणा होने लगी। वास्तवमें रोगका एक लक्षण तो समस्त रोग नहा हो सकता, जैसे मनुष्यका एक अंग मनुष्य नहीं होता। एलोपैथिक चिकित्सा प्रणालीके प्रति घृणा होनेका एक विशेष कारण यह भी हुआ कि रोगके केवल एक लक्षणकी चिकित्सा ऐसी औषधसे की जाती थी, जो उस लक्षणके ठीक विपरीत लक्षणको रोगीमें उत्पन्न कर देती थी, और केवल क्षणिक उपशम करके अन्तमें रोगीके लक्षणको बढ़ा देती थी।

१—योग्य चिकित्सककी चिकित्सामें जब रोगीमें रोगके कोई बाह्य चिन्ह और आन्तरिक लक्षण शेष नहीं रह जाते, तब कोई कैसे कह सकता है कि उसका रोग नष्ट नहीं हुआ, और रोगीके आन्तरिक भागमें रोग वर्तमान है? परन्तु एलोपैथीके प्रधान आचार्य हूफलैण्ड यह कहनेका साहस करते हैं कि होमियोपैथी लक्षणोंको तो हटा देती है, किंतु रोग नष्ट नहीं होता। उनके इस वक्तव्यके दो प्रधान आधार प्रतीत होते हैं। प्रथम तो मानव हितकारी होमियोपैथीकी उन्नतिको देखकर उनका लज्जित हो

स्वस्थ अवस्थामें शरीरयन्त्रको चेतन जैवशक्ति ही जीवित और सुव्यवस्थित रखती है।

९—चेतन जैवशक्ति ही इस भौतिक जड़ शरीरको जीवन प्रदान करती है। जब मनुष्य स्वस्थ रहता है, तब जैवशक्तिका यह कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक होता रहता है। शरीरयंत्रके अवयवों-का ठीक-ठीक संचालन तथा उनमें ज्ञान और क्रियाका समन्वय वह इस लिये करती रहती है कि शरीरमें बसनेवाला हमारा मन, जीवित स्वस्थ शरीरयंत्रके द्वारा, जीवनके परमपवित्र उद्देश्योंकी पूर्ति कर सके।

जीवनप्रद चेतन जैवशक्तिके बिना शरीरयन्त्र मर जाता है।

१०—इस भौतिक जड शरीरको स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों अवस्थाओंमें, चेतन जैवशक्ति ही जीवन प्रदान करती है। अनु-

---

जाना, तथा द्वितीय यह कि रोगको मानव शरीरके भीतर वर्तमान कोई भौतिक पदार्थ मानना, और समझना कि लक्षणोंके नष्ट हो जानेपर भी रोग नामक कोई भौतिक पदार्थ रोगीके शरीरके भीतर किसी कोनेमें छिपा रह जाता है, तथा रोगीके पूर्ण स्वस्थ्य हो जानेपर भी, वह किसी समय पुन प्रकट हो सकता है। वे यह नहीं समझ पाए कि मनुष्यकी जैवशक्ति-का विकृत हो जाना ही रोग है और जैवशक्तिकी विकृत दशाका स्वस्थ दशामें परिवर्तित हो जाना ही रोग-मुक्ति है। इस प्रकार भौतिकवादी पुरानी (एलोपैथिक) चिकित्साप्रणाली वास्तविकताके ज्ञानसे वंचित हो तो आश्चर्य ही क्या? इस भौतिकवादके कारण ही उस चिकित्सा-प्रणालीमें ऐसे चिकित्साविधान पाए जाते हैं जिनसे रोगियोंको महान् कष्ट होते हैं।

भव करनेका तथा जीवनसंबन्धी क्रियाओंके संपादन करनेका सामर्थ्य, जड़ शरीरको चेतन जैवशक्तिसे ही प्राप्त होता है। उसके बिना यह भौतिक शरीरयन्त्र अनुभवशून्य, निष्क्रिय एवं आत्मरक्षामें असमर्थ हो जाता है[1]।

रोगके कारण पहले जैवशक्ति ही दुर्व्यवस्थित होती है। दुर्व्यवस्थित हो जानेपर जैवशक्ति शरीर-यन्त्रमें लक्षणोंको प्रकट करके अपनी विकृत दशाका परिचय देती है।

११—यह स्वतन्त्र चेतन जैवशक्ति शरीरयन्त्रमें सर्वत्र विद्यमान रहती है। जीवन-विरोधी रोगजनक कारणोंकी शक्तिसे पहले वही (जैवशक्ति ही) दुर्व्यवस्थित होती है। इस प्रकार, जब जैवशक्तिमें असाधारण दुर्व्यवस्था हो जाती है, तब ही मनुष्य अस्वस्थ होता है। रोगग्रस्त जैवशक्ति ही शरीरयंत्रमें असुखकर अनुभूतियां उत्पन्न करती है और शरीरयंत्रको अनियमित क्रियाओंमें प्रवृत्त करती है। इन असुखकर अनुभूतियोंको तथा अनियमित क्रियाओंको हम रोग कहते हैं।

जैवशक्ति अदृश्य है। शरीरयन्त्रमें प्रकट हुए परिणामोंद्वारा (लक्षणोंद्वारा) ही हमें उसकी दशाका बोध हो सकता है। अतएव शरीरयंत्रके जिन भागोंकी परीक्षा की जा सकती है उनमें रोगजन्य असुखकर अनुभूतियोंको और अनियमित क्रियाओंको उत्पन्न करके, (अर्थात, विकृत लक्षणोंको प्रकट करके)

१—वास्तवमें जैवशक्तिविहीन होते ही शरीर मर जाता है, और बाह्य जगतके प्रभावसे उसमें सड़न और (पंच भूतोंका) विघटन आरम्भ हो जाता है।

जैवशक्ति अपनी व्याधिजन्य दुर्दशाका परिचय देती है। इसके निमित्त जैवशक्तिके पास कोई दूसरा साधन नहीं हो सकता[१]।

१—शक्तिके प्रभावको समझ लेना चाहिए। किसी अदृश्य शक्तिके प्रभावसे ही चन्द्रग्रह इस पृथ्वीकी परिक्रमा २८ दिन कुछ घटाम किया करता है। वास्तवमें यह पृथ्वीकी शक्ति है जो चन्द्रग्रहको अपने चारों ओर घुमाती रहती है। इसी प्रकार चन्द्रग्रहकी किसी अदृश्य शक्तिके प्रभावसे पूर्णचन्द्रके समय उत्तरीय महासागरमें ज्वार उठा करता है। ज्वार और भाटा नियमित समयसे होते रहते हैं। उपर्युक्त घटनाओंके लिये कोई प्रत्यक्ष भौतिक कारण नहीं होता। जिस प्रकार अस्त्रादिद्वारा मनुष्य विभिन्न कार्योंका सम्पादन करते हैं, उस प्रकार किसी अस्त्रका प्रयोग भी उपर्युक्त घटनाओंके निमित्त नहीं होता, अर्थात् किसी अस्त्रके द्वारा चन्द्रग्रह पृथ्वीके चारों ओर नहीं घुमाया जाता, और सागरकी अचिन्त्य जलराशिको ऊपर उठाने और नीचे गिरानेके लिये भी किसी अस्त्रका प्रयोग नहीं किया जाता। संसारमें ऐसे असंख्य कार्य नित्य हुआ करते हैं। एक पदार्थकी शक्तिका प्रभाव दूसरे पदार्थपर होता है। दोनोंमें कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, तथा उनमें कारण-कार्यका भी सम्बन्ध नहीं रहता। विचारद्वारा, अभ्यासद्वारा एवं मनोयोगद्वारा ही इस प्रकारके पदार्थोंमें सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। ऐसे सम्बन्धकी कल्पना भी इन्द्रियोंकी अनुभूतिके परे होती है। इन्द्रियां तो केवल भौतिक पदार्थोंका अनुभव कर सकती हैं। यदि दो पदार्थोंमें स्पर्शादिका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो, तो उस इन्द्रियोंद्वारा अनुभव किया जा सकता है। पदार्थोंकी शक्तिका प्रभाव, बिना किसी प्रत्यक्ष सम्बन्धके भी, दूसरेपदार्थों-पर होता है।

रोग-जनक पदार्थों की शक्तिके प्रभावसे इसी प्रकार प्रभावित होकर स्वस्थ शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, तथा औषधोंकी शक्तियोंके प्रभावसे

रोगग्रस्त जैवशक्ति भी इसी प्रकार रोगमुक्त हो जाती है। दोनों कार्य शक्ति प्रभावके ही परिणाम हैं। लोहेको अपने पास खींचनेके लिये चुम्बक किसी अस्त्रका प्रयोग नहीं करता, वरन् चुम्बककी अदृश्य आकर्षण-शक्तिके प्रभावसे—क्रियासे—लोहा चुम्बककी ओर खिंचता है। चुम्बककी आकर्षण शक्तिकी इस क्रियाको हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। हम देख नहीं सकते कि यह कैसे होता है। चुम्बककी आकर्षण शक्ति अपनी क्रिया करती है। इस क्रियाका प्रभाव लोहेपर पड़ता है। शक्तिकी क्रिया होनेके लिये, उसका प्रभाव पड़नेके लिये किसी भौतिक साधनकी आवश्यकता नहीं होती। वास्तवमें यह अदृश्य और अभौतिक है। चुम्बककी आकर्षण शक्ति अदृश्यरूपसे लोहेमें पहुँच जाती है। चुम्बकको स्पर्श किए बिना ही लोहा चुम्बक हो जाता है, और वह लोहेकी अन्य सुइयोंको आकर्षित करने लगता है, तथा उन्हें भी चुम्बक बना देता है। इसी प्रकार शीतला-पीड़ित रोगीके पास रहनेवाला बालक, यद्यपि शीतलापीड़ित रोगीको स्पर्श नहीं करता, और यद्यपि शीतला-पीड़ित रोगीसे निकलकर कोई भौतिक पदार्थ दूसरे (स्वस्थ) बालकमें प्रविष्ट नहीं हो जाता, तथापि शीतलाकी रोगजनक शक्तिके प्रभावसे दूसरे (स्वस्थ) बालकको शीतला-रोग हो जाता है।

जीवित मनुष्योंपर औषधकी क्रिया भी इसी प्रकार विचारणीय है। औषधरूपसे जिन पदार्थोंका उपयोग किया जाता है वे तभी औषध होते हैं जब उनकी अदृश्य शक्तिका प्रभाव चेतन ज्ञानतन्तुओंद्वारा मनुष्यकी अदृश्य जैवशक्तिको निश्चितरूपसे विकृत कर देता है, और उसके स्वास्थ्यमें परिवर्तन कर देता है। भौतिक पदार्थोंकी जिस शक्तिसे प्राणियोंके स्वास्थ्यमें परिवर्तन हो सकता है, पदार्थोंकी उसी शक्तिको औषध कहते हैं। अदृश्य एवं विचारगम्य जैवशक्ति ही अदृश्य विचारगम्य औषध शक्तिके प्रभावका विषय है। चुंबक अपनी आकर्षणशक्तिके प्रभावसे

पार्श्ववर्ती लोहेमें केवल अपनी आकर्षण शक्ति ही पहुँचा सकता है। अति कठोरता आदि लोहके अन्य गुणोंको वह दूसरे लोहेमें नहीं पहुँचा सकता। शीतलापीड़ित रोगी पार्श्ववर्ती बालकको केवल शीतलारोगसे ही आक्रान्त कर सकता है, अन्य रोगसे नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक औषधकी रोगजनक शक्ति मनुष्यके स्वास्थ्यमें अपने अनुरूप ही परिवर्तन कर सकती है। औषधोंकी शक्तिकी क्रिया हमारे स्वास्थ्यपर होती है, परन्तु औषधों का कोई भौतिक अंश हमारे शरीरमें नहीं पहुँच जाता। औषधकी मात्रा शक्तिकरणद्वारा इतनी अल्प की जा सकती है, कि सर्वोत्तम गणितज्ञ भी उसकी अल्पताकी कल्पना नहीं कर सकते, उसका मान नहीं निकाल सकते। औषधकी स्थूल मात्रामें रोगनाश करनेकी जितनी शक्ति होती है, उससे कहीं अधिक रोगनाशक शक्ति औषधकी अकल्पनीय अल्प मात्रामें हो जाती है। औषधकी शक्तिकृत अत्यल्प मात्रामें तो औषधकी स्वतन्त्र, विकसित, विशुद्ध, शक्ति-ही शक्ति रह जाती है। ऐसी मात्रा जैसा परिवर्तन कारी प्रभाव कर सकती है वैसा प्रभाव औषधकी स्थूल मात्रासे कदापि नहीं हो सकता।

भौतिकपदार्थवादी कल्पना करते हैं कि शक्तिकृत औषधके भौतिक अणुओंमें अथवा उन अणुओंके भौतिक एवं गणितसम्बन्धी काल्पनिक स्तरोंमें औषधकी शक्ति रहती है, परन्तु यह निरी कल्पना है। वास्तवमें औषध शक्ति अदृश्य और अकल्पनीय है। शक्तिकृत औषध द्रवमें अथवा उसमें भिगाई हुई गोलियोंमें औषधकी निर्मुक्त, अदृश्य, स्वतंत्र शक्ति विद्यमान रहती है। उच्चातिउच्च शक्तिकृत औषधका तनिक भी भौतिक अंश शरीरमें नहीं जाता। जीवित प्राणीके शरीरव्यापी ज्ञानतन्तुको स्पर्श करते ही समस्त शरीरयन्त्रपर औषधकी अदृश्य शक्तिका प्रभाव हो जाता है। शक्तिकरणद्वारा औषधशक्ति जितनी अधिक विकसित, स्वतंत्र, मुक्त, एवं अभौतिक हो जाती है उसकी क्रिया उतनीही अधिक बलवती होती है।

लक्षणसमूहका नाश हो जाना ही जैवशक्तिके विकारका अर्थात् आन्तरिक और बाह्य समस्त रोगका नाश हो जाना है।

१२—रोगग्रस्त जैवशक्ति ही अपनी दशाका परिचय देनेके लिये शरीरयन्त्रमें लक्षणसमूहको[1] (जिसे रोग कहते हैं) उत्पन्न करती है। अतएव लक्षणसमुच्चय ही सम्पूर्ण आन्तरिक परिवर्तनका, आन्तरिक शक्तिकेन्द्रकी व्याधिजन्य सम्पूर्ण दुरवस्थाका, जैवशक्तिके समस्त विकारका, अर्थात्, पूरे रोगका परि-

---

अत: क्या इस विचारपूर्ण युगम शक्तिको अभौतिक मानना नितान्त असम्भव है? हम नित्यप्रति ऐसी घटनाओंको प्रत्यक्ष होते देखते हैं जिनका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं होता। किसी घृणाके योग्य पदार्थको देखते ही वमनेच्छा क्यों हो जाती है? क्या उस पदार्थका कोई अंश हमारे पेटमें चला जाता है और वमनेच्छा उत्पन्न करता है? क्या उस घृणित पदार्थको देखनेमात्रसे वमनेच्छा नहीं उत्पन्न हो जाती? उस पदार्थका दर्शनमात्र हमारी कल्पनाशक्तिको प्रभावित करता है, जिससे हम वमनेच्छा होती है। हाथ ऊपर उठानेके लिये क्या हम किसी भौतिक साधनकी आवश्यकता पड़ती है? क्या हमारी इच्छाशक्तिकी अदृश्य अभौतिक क्रियामात्रसे हमारा हाथ ऊपर नहीं उठ जाता?

१—शरीरयन्त्रमें जैवशक्ति लक्षणोंको कैसे प्रकट करती है अर्थात् वह रोगोंको कैसे प्रकट करती है इसे जान लेनेसे चिकित्सकोंको कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। वास्तवमें तो इसे हम कभी जान भी नहीं सकेंगे। जीवनके स्वामीने (ईश्वरने) रोगसम्बन्धी केवल दृश्य भावोंको (अर्थात् लक्षणोंको) चिकित्सकोंके प्रत्यक्ष किया है जिनका ज्ञान चिकित्सकोंको होना ही चाहिए और जिनके ज्ञानसे ही वे रोगोंको पूर्णतया नष्ट कर सकते हैं।

चायक होता है। अतएव चिकित्साद्वारा लक्षणसमूहके नाश हो जानेका यही अर्थ होता है कि जैवशक्तिकी सम्पूर्ण दुर्व्यवस्था दूर हो गई, तथा परिणाम भी निःसन्देह यही होता है कि शरीरयन्त्र रोगमुक्त एवं स्वस्थ हो जाता है।

रोगको शरीरके भीतर छिपा हुआ कोई भौतिक पदार्थ मानना ही एलोपैथी का दोष है।

१३—अतएव एलोपैथीका यह सिद्धान्त हास्यास्पद है कि रोग (जो शल्य चिकित्सा-क्षेत्रके बाहर हो) मानव शरीरयन्त्रसे तथा जैवशक्तिसे भिन्न कोई दूषित भौतिक पदार्थ होता है, और वह शरीरके भीतरी भागमें छिपा रहता है। रोगको भौतिक पदार्थ मानना—चाहे उसे कितना भी सूक्ष्म क्यों न माना जाय—निरी कल्पना है। ऐसी निराधार एवं दोषपूर्ण कल्पनाने एलोपैथिक विचारधाराको भ्रान्त कर दिया। इसी भ्रमके कारण उस चिकित्साप्रणालीमें सहस्त्रों वर्षोंसे विनाशकारी प्रक्रियाओं-का समावेश हो रहा है। अतएव ही यह दोषयुक्त चिकित्सा-कला रोगनाश करनेमें असमर्थ होती है।

रोग-जन्य समस्त साध्य विकार लक्षणोंद्वारा प्रकट हो जाता है।

१४—मानव जीवनकी रक्षा करने वाला परमेश्वर सर्वज्ञ और सर्वोत्तम है। मानव शरीरयन्त्रकी रचनासे ही उसकी सर्वज्ञता और सर्वोत्तमता प्रमाणित हो जाती है। शरीरयन्त्र-की समस्त साध्य दुर्व्यवस्था (अर्थात् रोगजन्य आन्तरिक परि-वर्तन तथा बाह्य विकार), भलीभांति परीक्षा करनेपर, लक्षणों एवं चिह्नोंद्वारा चिकित्सकको विदित हो जाती है।

जैवशक्तिकी दुर्व्यवस्था एवं उससे उत्पन्न हुए लक्षण दोनों एक-दूसरेसे अभिन्न हैं।

१५—चेतन शक्तिकेन्द्र अर्थात् जैवशक्ति हमारे शरीरयन्त्रके अन्तःस्थलमें जीवन प्रदान करती रहती है। जब जैवशक्ति व्याधिग्रस्त होकर दुर्व्यवस्थित हो जाती है, तब वह शरीरयन्त्रमें लक्षणसमूह को उत्पन्न करती है। लक्षणसमूह जैवशक्तिकी व्याधिका प्रतीक होता है। इस प्रकार जैवशक्तिकी व्याधि और उससे उत्पन्न हुए लक्षण दोनों एक दूसरेसे अभिन्न होते हैं।

शरीरयंत्र जैवशक्तिका भौतिक साधनमात्र है। जैवशक्ति संचालक शक्तिकेन्द्र है। उससे अनुप्राणित हुए विना शरीर-यन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती, अर्थात्, जबतक जैवशक्तिसे शरीरयन्त्रके प्रति जीवन-शक्तिका संचार होता रहता है, तब-तक ही शरीरयन्त्र जीवित रह सकता है। इस भौतिक साधनके (शरीरयन्त्रके) विना जैवशक्तिका भी बोध नहीं हो सकता। अतएव विचार करते समय, बोधकी सुगमताके लिये, यद्यपि हमारा मन दोनोंकी पृथक् पृथक् कल्पना करता है, तथापि दोनों एक-दूसरेसे अभिन्न हैं।

रोगजनक हेतुओंके चिन्मय प्रभावसे ही चेतन जैवशक्ति दुर्व्यवस्थित हो सकती है, तथा इसी प्रकार औषधशक्तिके चिन्मय प्रभावद्वारा ही जैवशक्ति पुनः स्वस्थ हो सकती है।

१६—जैवशक्ति अदृश्य, चेतन एवं शक्तिमात्र होती है। अतएव वे ही प्रभाव उसमें परिवर्तन कर सकते हैं जो

शक्तिमय, अदृश्य एवं चिन्मय होते हैं। इस कारण जीवन-विरोधी बाह्य हेतुओंका जो प्रभाव शरीरयन्त्रपर पड़ा करता है, वह यदि चिन्मय हो, तो ही ज्ञानतन्तुओंद्वारा जैवशक्तिमें पहुँच सकता है, जैवशक्तिको दुर्व्यवस्थित कर सकता है और उसीसे जीवनका सुखमय प्रवाह क्षुब्ध हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं। ठीक इसी प्रकार, औषधशक्तिके चिन्मय प्रभावसे ही जैवशक्तिमें परिवर्ततन हो सकता है। यह चिन्मय प्रभाव शरीरमें सर्वत्र विद्यमान चेतन ज्ञानतन्तुओंद्वारा जैवशक्तिमें पहुच जाता है, अर्थात् अपनी शक्तिमय क्रियाद्वारा ही औषध जैवशक्तिको पुनः स्वस्थ कर सकती है, और करती भी है। अन्यथा किसी प्रकार नहीं[1]। सारांश यह है कि जब चिकित्सक-को रोगीके स्वास्थ्यसंबन्धी परिवर्तनोंद्वारा (लक्षणसमुच्चय-द्वारा) व्याधिका अर्थात् जैवशक्तिकी दुर्व्यवस्थाका ठीक बोध हो जाता है, तब ही उपयुक्त औषधके अदृश्य चिन्मय प्रभावसे चिकित्सक जैवशक्तिकी दुर्व्यवस्थाको दूर कर सकता है, तभी रोगी स्वस्थ हो सकता है, एवं जीवनोचित साम्य स्थापित हो सकता है।

लक्षणसमुच्चयका नाश हो जानेसे सम्पूर्ण रोगका नाश हो जाता है।

१७—रोगके सब प्रत्यक्ष लक्षणों और चिन्होंका विनाश कर

१—यथा, कल्पनाद्वारा जैवशक्तिकी शान्ति भङ्ग हो जानेसे अत्यन्त कठिन व्याधि उत्पन्न हो सकती है, तथा कल्पनाद्वारा ही जैवशक्तिमें पुनः शान्ति स्थापित हो जानेसे उस व्याधिका नाश भी हो सकता है। कल्पना चिन्मय प्रभाव ही है।

देनेसे रोगका और रोगके मूलका भी विनाश हो जाता है। जैवशक्तिका आन्तरिक परिवर्तन ही तो रोगका मूल है। लक्षणसमूहका विनाश हो जानेपर जैवशक्ति पुनः स्वस्थ हो जाती है, अर्थात् रोगके मूलका भी विनाश हो जाता है। साराश यह है कि लक्षणसमूहका नाश हो जानेसे समग्र रोगका नाश हो जाता है[1]। अतएव लक्षणसमूहको दूर कर देना ही चिकित्सकका प्रधान कर्तव्य है। लक्षणसमूहका विनाश हो जानेसे आन्तरिक परिवर्तनका, अर्थात् जैवशक्तिकी दुर्व्यवस्थाका, फलतः रोगके सर्वाङ्गका अर्थात् स्वयं[2] रोगका एकसाथ ही नाश हो जाता

१—कभी-कभी दुःस्वप्नसे, अपशकुनसे, अथवा मृत्युका समय बतलानेवाली भविष्यवाणीसे मनुष्य इतना प्रभावित हो जाता है कि वह रोगी हो जाता है और रोगी हो जानेसे पूर्ण लक्षण प्रकट हो जाते हैं, तथा भविष्यवाणीद्वारा निर्धारित समयपर प्रायः वह मर भी जाता है। आन्तरिक परिवर्तन बिना, बाह्य शरीरकी ऐसी दशा नहीं हो सकती। अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि इन कारणोंसे मनुष्यमें आन्तरिक परिवर्तन हो जाता है, उसकी जैवशक्ति दुर्व्यवस्थित हो जाती है। ऐसे रोगियोंको स्वस्थ करनेके लिये केवल मानसिक उपचार पर्याप्त भी हो जाते हैं। यदि ऐसे रोगीको, झूठ बोलकर भी, यह विश्वास करा दिया जाय कि उसकी आयु समाप्त नहीं हुई और उसे बहुत समय जीवित रहना है, तो वह स्वस्थ हो जाता है। साराश यह कि मानसिक उपचारसे उसका आन्तरिक विकार भी नष्ट हो जाता है। अन्यथा वह स्वस्थ कैसे हो जाता?

२—मानव जातिके रक्षक परमेश्वरकी यह कृपा और बुद्धिमत्ता है कि मनुष्यके रोगोंका नाश करनेके निमित्त उसने ऐसी सुव्यवस्था कर दी है कि रोग लक्षणद्वारा प्रकट हो जाता है, और लक्षणोंको ही विनष्ट कर देनेसे चिकित्सक रोगीको रोगमुक्त कर सकता है। अन्यथा यदि रोगोंको परमेश्वर मनुष्यके अदृश्य आन्तरिक भागमें छिपा देते (अर्थात् लक्षणों

है। रोगका नाश हो जानेसे रोगी पुन स्वस्थ हो जाता है। जिन चिकित्सकोंको स्वकर्तव्यके लक्ष्यका बोध है उनका यही एक-मात्र परम उद्देश्य होता है। चिकित्सकका कर्तव्य है रोगीकी सहायता करना, न कि पाण्डित्यप्रदर्शन करनेवाला शब्दाडम्बर।

लक्षणसमुच्चय ही औषध निर्वाचनका एकमात्र आधार है

१८—ह्रास-वृद्धि सहित (सूत्र ५) लक्षणसमुच्चयोंद्वारा ही रोग चिकित्साकी आवश्यकताको व्यक्त करते हैं। इसके लिये उनके पास कोई दूसरा साधन नहीं होता। इस निर्भ्रान्त तथ्यसे निर्विवादरूपेण यही प्रमाणित होता है कि प्रत्येक रोगीका ह्रास-वृद्धि सहित लक्षणसमुच्चय ही उसके लिये उपयुक्त औषध-के निर्वाचन करनेका एकमात्र आधार है और पथ प्रदर्शक है।

औषध स्वास्थ्यमें परिवर्तन कर सकती है, इसीलिये रोगीके परिवर्तित स्वास्थ्यको वह ठीक भी कर सकती है, अन्यथा कदापि नहीं।

१९—स्वस्थ व्यक्तिके स्वास्थ्यका परिवर्तन ही रोग है। यह परिवर्तन विकृत लक्षणोंद्वारा प्रकट होता है। रोगीके परिवर्तित स्वास्थ्यका (अस्वास्थ्यका) स्वास्थ्यमें परिवर्तन हो जाना ही रोग-मुक्ति है। अत यह स्पष्ट है कि मनुष्यके स्वास्थ्यमें परिवर्तन

द्वारा प्रकट न होने देते) जैसा कि ऐलोपैथिक सिद्धान्तमें रोग कोई छिपा हुआ भौतिक पदार्थ माना जाता है, तो हम परमेश्वरकी कृपा और बुद्धिके विषयमें क्या समझेंगे। क्योंकि तब तो, रोगीको रोगमुक्त करना मानवशक्तिके लिये असम्भव हो जाता।

करनेकी सामर्थ्य यदि औषधमें न होती, तो वे रोगको कदापि नष्ट न कर सकतीं। मनुष्यके स्वास्थ्यमें परिवर्तन करनेकी सामर्थ्य ही वास्तवमें औषधोंकी रोगनाशक शक्तिका मूल कारण है।

स्वस्थ व्यक्तियोंपर प्रयोग करनेसे ही औषधोंकी स्वास्थ्य-परिवर्तनकारी शक्तिका परिचय मिल सकता है।

२०—औषधोंकी आन्तरिक प्रकृतिमें मानव स्वास्थ्यको परिवर्तित करनेकी अदृश्य सामर्थ्य छिपी रहती है। केवल तर्क-द्वारा इस शक्तिका वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। जब उनका प्रयोग स्वस्थ व्यक्तियोंपर किया जाता है, तब वे अनेक लक्षणों-को (उपसर्गोंको) उत्पन्न करती हैं। ऐसे प्रकट हुए लक्षणोंके अनुभवद्वारा हीं हमें औषधोंकी सामर्थ्यका स्पष्ट बोध हो सकता है।

स्वस्थ व्यक्तियोंमें औषध-प्रयोगसे जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हींके द्वारा हमें उनकी रोगनाशक शक्तिका परिचय मिलता है।

२१—यह निर्विवाद है कि औषधोंका रोगनाशक तत्त्व स्वयं अदृश्य होता है, किन्तु मानव स्वास्थ्यमें, विशेषतः स्वस्थ मानवके स्वास्थ्यमें वे निश्चित परिवर्तन कर सकती हैं और भिन्न भिन्न सुनिश्चित रोगजन्य लक्षणोंको उत्पन्न कर सकती हैं। अत्यन्त सतर्क और तत्पर निरीक्षकोंने औषधोंके विशुद्ध परीक्षात्मक प्रयोग किए, परन्तु उपर्युक्त सामर्थ्यके अतिरिक्त उनमें कोई अन्य तत्त्व नहीं पाया गया, जिसके कारण वे औषध अथवा उपचार हो सकें। अत एव यही सिद्ध होता है कि जब रोगनाश

करनेके लिये औषधोंका प्रयोग होता है, तब वे अपनी शक्ति-द्वारा विशेष लक्षणोंको उत्पन्न कर, मनुष्यके स्वास्थ्यको परिवर्तित कर देती हैं, तथा इसी प्रकार वे अपनी रोगनाशक शक्तिका परिचय देती हैं। औषधोंकी आन्तरिक शक्तिकी क्रियासे स्वास्थ्यमें जो परिवर्तन होते हैं, अर्थात् जो रोगजन्य (विकृत) लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हींके द्वारा हमें उनकी रोगोत्पादक और रोगनाशक सामर्थ्यका ज्ञान हो सकता है।

यदि अनुभव यह सिद्ध करे कि रोगलक्षणोंके सदृश लक्षणोंको उत्पन्न करनेवाली औषध रोगको शीघ्र, निश्चयपूर्वक और समूल नष्ट कर सकती है, तो रोगका नाश करनेके लिये *सदृश लक्षण उत्पन्न करनेवाली औषधका निर्वाचन* करना चाहिये; परन्तु यदि अनुभवद्वारा यह प्रमाणित हो कि रोगलक्षणोंके विपरीत लक्षणोंको उत्पन्न करनेवाली औषधसे रोग शीघ्र, निश्चयपूर्वक और समूल नष्ट होता है, तो रोगनाश करनेके लिये विपरीत लक्षण उत्पन्न करनेवाली औषधका निर्वाचन करना चाहिये।

२२—रोगोंमें लक्षणसमूहके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं होती जिसे दूर कर देनेसे रोगी स्वस्थ हो सके। स्वस्थ व्यक्तियोंमें विकृत (रोगजन्य) लक्षणोंको उत्पन्न करनेकी प्रवृत्तिके अतिरिक्त औषधोंमें भी कोई दूसरी वस्तु नहीं होती जिसे उनका रोगनाशक तत्त्व कहा जा सके। अतएव एक ओर तो यह सिद्ध होता है कि कृत्रिम रोग उत्पन्न करके, अर्थात् निश्चित लक्षणसमूह उत्पन्न करके, औषध विद्यमान प्राकृतिक

रोगको अर्थात् वर्तमान लक्षणोंको नष्ट करती है, दूसरी ओर यह सिद्ध होता है कि रोगके लक्षणसमूहको नष्ट करनेके लिये उसी औषधका अनुसन्धान करना चाहिये जिसमें रोगलक्षणोंके सदृश लक्षणोंको, अथवा जिसमें रोगलक्षणोंके विपरीत लक्षणोंको उत्पन्न करनेकी अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति सिद्ध हुई हो। यह बात अनुभवसे प्रमाणित होगी कि रोगको अर्थात् रोगजन्य लक्षणसमूहको अत्यन्त शीघ्र, निश्चित रूपसे, और जडसे नष्ट करके रोगीको कौन स्वस्थ कर देता है, सदृश औषधलक्षण, अथवा विपरीत औषधलक्षण[1] ?

१—इन दोनोंके अतिरिक्त केवल एकही विधान और सम्भव है, उसे ही एलोपैथी कहते हैं। उसके अनुसार ऐसी औषधका प्रयोग किया जाता है जिसके लक्षणोंका रोगके लक्षणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात एलोपैथिकविधानके अनुसार जिस औषधका प्रयोग किया जाता है उसके लक्षण न तो रोग-लक्षणोंके सदृश होते हैं और न उनके विपरीत। औषध निःसन्देह उग्र होती हैं, परन्तु चिकित्सक यह नहीं जानते कि स्वस्थ मनुष्यमें वह कैसे लक्षणोंको उत्पन्न कर सकती है। औषधका निर्वाचन केवल अनुमानसे किया जाता है। उनका प्रयोग भी बड़ी बड़ी मात्राओंमें और बारंबार किया जाता है। इस प्रकार एलोपैथिक विधानके अनुसार रोगीके जीवनका मारात्मक खेलवाड़ किया जाता है। इतना ही नहीं, वरन् रोगको शरीरके अन्य भागमें स्थानान्तरित करनेके लिये कष्टप्रद चीर-फाड़ किये जाते हैं। वमन विरेचनादि कराकर, पसीना निकलवाकर, लार गिरवाकर तथा निर्दयतापूर्वक अपूरणीय रक्तस्राव कराकर, रोगीके जैव रसोंका तथा उसकी शक्तिका व्यर्थ क्षय किया जाता है। रोगीकी प्रकृतिका (जैवशक्तिका) अनुकरण करनेके व्याजसे, तथा उसकी प्रकृतिके तथाकथित अधूरे एवं अनुपयुक्त प्रयत्नोंकी सहायता करनेके नामपर ऐसे कार्योंको एलोपैथिक चिकित्सक

विपरीत विधानद्वारा चिर रोग-लक्षणोंका नाश नहीं होता ।

२३- विधिपूर्वक किये गये अनुसन्धानोंसे तथा विशुद्ध अनुभवोंद्वारा यही निश्चय होता है कि विपरीत औषध-लक्षणोंसे चिर रोगलक्षणोंको न तो दूर किया जा सकता है और न

अपना नित्यकर्म समझते हैं। इन कृत्योंका क्या परिणाम होता है इस बातकी वे कभी चिन्ता भी नहीं करते, वरन् उन्हें आँख मूँदकर किया करते हैं। वे यह नहीं विचारते कि प्रकृति बुद्धि विहीन होती है। स्वस्थ अवस्थामें शरीरयन्त्रके विभिन्न अवयवोंका जीवनोचित साम्यसहित सञ्चालन करना ही उसका कर्तव्य है। इसी निमित्त वह शरीरयन्त्रमें स्थापित होती है। शरीरयन्त्रके अस्वस्थ हो जानेपर उसकी चिकित्सा करना प्रकृतिका (जैव शक्तिका) कर्तव्य नहीं है। यदि जैवशक्तिमें ऐसी आदर्श शक्ति होती, तो वह शरीरयन्त्रको कभी रुग्ण न होने देती।

रोगजनक कारणोंसे दुर्व्यवस्थित हो जानेपर जैवशक्ति अपनी रोगजन्य दुर्व्यवस्थाको लक्षणोंद्वारा प्रकट कर देती है। वास्तवमें इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं कर सकती। रोगीकी जैवशक्ति कष्टनिवारणके लिये लक्षणोंद्वारा बुद्धिमान् चिकित्सकसे सहायताकी याचना करती है। यदि समय रहते समुचित सहायता नहीं दी जाती, तो जैवशक्ति भीषण स्रावादिद्वारा अपनी रक्षा करनेका प्रयत्न करती है। इस बातकी चिन्ता वह कर ही नहीं सकती कि उसके ऐसे प्रयत्नोंका फल क्या होगा। फलतः बड़ी-बड़ी हानियाँ हो जाती हैं। प्रायः मृत्यु भी हो जाया करती है। परन्तु रोगनाश करनेके लिये स्वयं रुग्ण जैवशक्तिमें कोई सामर्थ्य नहीं होती, न वह इस हेतु कोई प्रयत्न ही करती है जिसके अनुकरण करनेका व्यर्थ दम्भ एलोपैथिक चिकित्सक किया करते हैं। वे यह नहीं समझते कि रुग्ण जैवशक्ति अपनी दुर्दशाका परिचय देनेके लिये शरीरयन्त्रमें लक्षणोंको उत्पन्न

उनका नाश ही हो सकता है, उनमें केवल क्षणिक (अस्थायी) कमी हो जाती है। परन्तु उस अस्थायी कमीके पश्चात् वे रोग-लक्षण शीघ्र ही उग्रताके साथ पुनः प्रकट हो जाते हैं तथा स्पष्टतया बढ़ जाते हैं।

अत एव सदृशविधान ही सर्वदा हितकारी चिकित्सा-विधान हो सकता है।

२४—सदृश विधान ही अत एव चिकित्साका एकमात्र ऐसा विधान है जिसके अनुसार औषधका प्रयोग करनेसे रोगमुक्ति हो सकती है। किसी प्रस्तुत रोगीके रोगका (लक्षणसमूहका) नाश करनेके लिये सदृशविधानके अनुसार उसी औषधका प्रयोग किया जाता है जिसकी परीक्षा स्वस्थ व्यक्तियोंपर हो चुकी हो, जिसकी क्रियाके परिणामका ज्ञान प्राप्त कर लिया गया हो, तथा जिसमें प्रस्तुत रोगीकी रोगजन्य दशाके सदृश कृत्रिम दशाको उत्पन्न करनेकी प्रवृत्ति और सामर्थ्य सिद्ध हो चुकी हो।

रोग-लक्षणोंके सदृश लक्षणोंको उत्पन्न करनेवाली औषधसे ही रोगमुक्ति होती है।

२५—यत्नपूर्वक परीक्षा करनेसे विशुद्ध अनुभव[1] प्राप्त होता

करती है और परिवर्तन करती है। ये लक्षण और परिवर्तन रुग्ण जैव-शक्तिकी दुर्दशाके प्रतीक हैं, स्वयं रोग हैं।

अत एव यदि अनुकरण करके रोगीका बलिदान कर देना ही अभीष्ट नहीं हो, तो कौन बुद्धिमान् चिकित्सक रोगीको नीरोग करनेके लिये रुग्ण जैवशक्तिका अनुकरण करेगा?

१—इसका अभिप्राय इस प्रकारके अनुभवसे कदापि नहीं है

है। विशुद्ध अनुभव चिकित्साकलाकी अमोघ आकाशवाणी है। विशुद्ध अनुभवोंसे यही शिक्षा मिलती है कि जिस औषध-की क्रियासे स्वस्थ व्यक्तियोंमें प्रस्तुत रोगीके प्रत्यक्ष लक्षणोंके सदृश अधिकसे अधिक लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं, उसी औषधकी शक्तिकृत मात्राके प्रयोगसे रोगीका लक्षणसमुचय अर्थात् उसका सम्पूर्ण रोग (सूत्र ६-१६) शीघ्र, जड़से और सर्वदाके लिये नष्ट हो जाता है। विशुद्ध अनुभवोंसे यह भी सिद्ध होता है कि सब औषधियाँ, बिना किसी अपवादके, अपने-

---

जैसा कि पुरानी प्रणालीके अर्थात् एलोपैथीके चिकित्सकोंको होता है और जिसका वे व्यर्थ अभिमान करते हैं। रोगियोंकी परीक्षामें लक्षणोंका अनुसंधान तो वे करते नहीं। अपनी चिकित्साप्रणालीके सिद्धान्तोंके अनुसार रोगोंको वे शरीरयन्त्रके भीतर छिपा हुआ कोई भौतिक पदार्थ मान लेते हैं। औषधोंकी परीक्षा भी वे स्वस्थ व्यक्तियोंपर नहीं करते। इसी कारण औषधोंकी क्रियाके परिणामोंका ज्ञान भी उन्हें नहीं होता। इस प्रकार ऐसे अज्ञात रोग को (कारण को) दूर करनेके लिये, जिसे ईश्वरके अति-रिक्त कोई (मानव) प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, वे ऐसी औषधोंके मिश्रणों-का प्रयोग करते हैं जिनकी क्रिया और परिणामको वे नहीं जानते। ऐसे प्रयोगोंके फलसे न तो कोई शिक्षा प्राप्त हो सकती है और न कोई अनुभव ही हो सकता है। यदि किसी यन्त्रमें अनेक रंगकी वस्तुओंको भरकर उन्हें सर्वदा घुमाया जावे, तो देखनेवालेको सहस्रों प्रतिक्षण परि-वर्तनशील एवं अद्भुत रूप प्रत्यक्ष होंगे, परन्तु उन सर्वदा घूमती हुई वस्तुओंको ५० पचास वर्षतक निरीक्षण करते रहनेपर भी उनमेंसे एकके भी रूपका निश्चयात्मक बोध नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार पुरानी प्रणालीके अनुसार ५० वर्ष चिकित्सा करते रहनेपर भी कोई विशुद्ध अनुभव नहीं प्राप्त हो सकता।

अपने सदृश लक्षणवाले रोगोंको नष्ट कर देती है, तथा सदृश लक्षणवाले किसी रोगको नष्ट किए बिना नहीं छोड़तीं।

चिकित्सासंबन्धी प्राकृतिक नियम ही सदृश विधानका आधार है।

२६—प्रकृतिका सदृश विधानात्मक नियम यह है कि अत्यन्त दृश लक्षणयुक्त[1] प्रबल किन्तु प्रकारतः भिन्न रोग, शरीर-यन्त्रमे ।यमान अपेक्षाकृत दुर्बल रोगको, जड़से नष्ट कर डालता है। ही प्राकृतिक नियम पिछले सूत्रमे वर्णित सदृश-विधानके

१—इस प्रकारसे ही शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारकी ।ाधियोंसे मुक्ति हो सकती है। अरुणोदय होते ही वृहस्पति ग्रह अदृश्य यों हो जाता है? सूर्यके सदृश किन्तु प्रबल तेजके प्रभावसे। सूर्यके पर तेजका प्रभाव नेत्रोंकी ज्ञानतन्तुओंपर होता है। अधिक प्रखर नेके कारण वह वृहस्पतिके कम बलवान तेजके प्रभावको नष्ट कर देता । फल यह होता है कि वृहस्पति ग्रह अदृश्य हो जाता है। अत्यन्त गन्धयुक्त वातावरणमे सुंघनीकी अति उग्र गन्धसे ही घ्राणेन्द्रियको शान्ति मलती है। उत्तमसे उत्तम सगीतसे अथवा सुस्वादु भोजनसे घ्राणेन्द्रियका ह कष्ट कदापि दूर नहीं होता। चतुर सैनिक कुटुम्बियोंके करुण क्रन्द-को भावुक दर्शकोंके कानतक किस प्रकार नहीं पहुँचने देते? रणवाद्य जाकर। दूरस्थ शत्रुकी तोपोंकी दहाड़से स्वसैन्यके भयसे बड़े बड़े रण-गारोंको बजाकर ही भगाया जाता है। उत्तमोत्तम वस्त्रका पुरस्कार ।यवा सैनिक अफसरोंकी डॉट-फटकार उसे दूर नहीं कर सकती। दूसरोंकी ·वन्वधा, चाहे वह कल्पित ही क्यों न हो, शोकको घटा देती है और र कर देती है। काफी पीनेसे हर्षातिरेक हो जाता है, अतएव अत्यन्त र्षके दुष्परिणामको काफी पिलाकर दूर किया जाता है।

सिद्धान्तका आधार है। इस नियमका अस्पष्ट आभास पहले भी किसी-किसीको हुआ था, परन्तु अनसे पहले किसीने इसे मान्यता नहीं प्रदान की। जब-कभी वास्तविक रोगमुक्ति हुई, तब इसी नियमके अनुसार हुई।

अतएव औषधोंकी रोगनाशक सामर्थ्य रोगलक्षणोंके सदृश लक्षणोंको उत्पन्न कर सकनेकी क्षमता परही निर्भर है।

२७—अतएव औषधोंके लक्षणोंपर ही उनकी रोगनाशक सामर्थ्य निर्भर है। यदि उनके लक्षण रोग-लक्षणोंके सदृश होते हुए रोग लक्षणोंसे प्रबल भी हों, तो वे रोगका नाश कर सकती हैं (सूत्र १२—२६)। इस प्रकार प्रत्येक रोगीका रोग अति निश्चय पूर्वक और अत्यन्त शीघ्र, समूल तथा सर्वदाके लिये उसी औषधसे दूर होता है जो रोगीके रोग-लक्षणोंके अत्यन्त सदृश किन्तु उनसे प्रबल लक्षण-समुच्चय मानव शरीरमें उत्पन्न कर सकती है।

चिकित्सासम्बन्धी उपर्युक्त प्राकृतिक नियमका स्पष्टीकरण।

२८—ससारके प्रत्येक विशुद्ध परीक्षण तथा निष्पक्ष निरीक्षणसे सिद्ध होता है कि रोगनाश करनेका प्राकृतिक नियम यही है। अतएव इसकी सत्यता प्रमाणित हो जाती है। इस प्राकृतिक नियमके द्वारा रोगनाशका कार्य कैसे सपादित होता है इसका वैज्ञानिक विवेचन निष्प्रयोजन है। इसलिये यद्यपि इस विवेचनका मेरी दृष्टिमें कोई महत्त्व नहीं है तथापि अगले सूत्रमें इसे जिस दृष्टिकोणसे समझानेका प्रयत्न किया गया है वही सर्वोत्तम है, कारण कि अनुभवद्वारा किया गया अनुमान ही उसका आधार है।

चिकित्सासंबन्धी प्राकृतिक नियमका वैज्ञानिक विवेचन।

६९—रोगजनक कारणकी शक्तिके प्रभावसे जैवशक्तिकी स्वस्थ दशामें परिवर्तन हो जाता है। यही परिवर्तन रोग है। विकृत अनुभूतियों और अनियमित क्रियाओंद्वारा जैवशक्ति अपनी परिवर्तित दशाका प्रदर्शन करती है।

रोगका नाश करनेके लिये सदृश विधानके अनुसार वही औषध चुनी जाती है जो रोगलक्षणोंके सदृश लक्षणोंको उत्पन्न कर सकती है। अतएव, इस प्रकार चुनी गई औषधकी शक्तिकृत मात्राके प्रयोगसे जैवशक्तिमें ठीक वैसा ही, किन्तु गुरुतर, परिवर्तन होता है। परिवर्तन गुरुतर होनेके कारण उसका प्रदर्शन भी बलशाली लक्षण और क्रियाओंद्वारा होता है। इस प्रकार, जैवशक्ति औषधजन्य (कृत्रिम) सदृश किन्तु प्रबल रोगप्रदर्शनमें व्यस्त हो जाती है, उसके वशमें हो जाती है। तब, रोगके (प्राकृतिक रोगके) अल्प बलशाली प्रदर्शनकी अनुभूति नहीं होती एवं उसकी ओर जैवशक्तिका आकृष्ट होना स्थगित हो जाता है, समाप्त हो जाता है। वास्तवमें जैवशक्तिके लिये तो उसका (कृत्रिम रोगलक्षणोंके प्रदर्शनका) अस्तित्व ही नहीं रह जाता। कृत्रिम (औषधजन्य) रोगप्रदर्शनका (लक्षणोंका) बल शीघ्रही अपने-आप नष्ट हो जाता है और रोगी रोगमुक्त एवं आरोग्य हो जाता है। रोगसे मुक्त होकर जैवशक्ति पुनः जीवनोचित क्रियाओंका संपादन करने लगती है।

सदृश विधानात्मक चिकित्सासंबन्धी प्राकृतिक नियमकी क्रियाशैली संभवतः यही है। जिन तथ्योंपर यह क्रियाशैली निर्भर है उनका वर्णन अगले सूत्रोंमें किया जाता है।

मानव शरीर रोगोंसे उतना प्रभावित नहीं होता जितना औषध-शक्तियों से हो सकता है।

३०—उपयुक्त औषधसे¹ प्राकृतिक रोग वशमें हो जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं। अतएव प्रतीत होता है कि मानव शरीर-के स्वास्थ्यपर प्राकृतिक रोगोंकी अपेक्षा औषधोंका प्रभाव बहुत अधिक होता है। इसका कारण अंशतः यह भी है कि औषधोंकी मात्राको घटाना अथवा बढ़ाना हमारे अधीन है।

प्राकृतिक रोगजनक हेतुसे सब सर्वदा आक्रान्त नहीं हो सकते।

३१—प्राकृतिक प्रतिकूल कारण—अर्थात् प्राकृतिक रोग-जनक हेतु—अंशतः भौतिक और अंशतः आधिदैविक (शक्तिमय) होते हैं। यद्यपि मानव शरीरयन्त्रपर उनका प्रभाव सदैव पड़ा

१—कृत्रिम रोगजनक कारणोंका अर्थात् औषधोंका प्रभाव चिर-स्थायी नहीं होता। अत एव यद्यपि औषधोंका प्रभाव प्राकृतिक रोगोंके प्रभावसे अधिक बलशाली होता है, तथापि औषधजन्य प्रभावको (विकारको) जैवशक्ति सरलतासे पराजित कर डालती है। प्राकृतिक रोगोंके भोगकालकी अवधि बहुत लम्बी होती है, चिर रोगोंकी (यथा कच्छु, उपदंश और प्रमेहकी) अवधि तो जीवनपर्यन्त होती है। अत एव जैवशक्ति स्वयमेव उनका पराभव नहीं कर सकती। जैवशक्तिकी सहायता करनेके लिये चिकित्सकको रोगके सदृश किन्तु अधिक बलशाली लक्षण उत्पन्न करनेवाली औषधकी शक्तिसे उसे (जैवशक्तिको) प्रभा-वित करना पड़ता है। शीतला और छोटी शीतलाका भोगकाल कतिपय सप्ताह ही होता है, परन्तु उनके द्वारा दीर्घकालीन व्याधियोंका नाश होते देखा गया है (सूत्र ४६)। इन उदाहरणोंसे यह सिद्ध हो

ही करता है, तथापि मानव स्वास्थ्यको दुर्व्यवस्थित और रोगाक्रान्त करनेमें वे स्वतंत्र नहीं हैं¹। जब शरीरयन्त्रकी परिस्थिति एवं प्रवृत्तिमें रोगकारणसे प्रभावित होनेकी पर्याप्त अनुकूलता हो जाती है अर्थात् वह इस योग्य हो जाता है कि वर्तमान रोगजनक कारणके प्रभावसे उसमें अस्वाभाविक अनुभूतियां और क्रियाएँ हो सकें, अर्थात् उसकी जैवशक्ति दुर्व्यवस्थित (परिवर्तित) हो सके, तभी मनुष्य अस्वस्थ हो सकता है। अतएव, यही सिद्ध होता है कि प्राकृतिक रोगजनक कारण सबको सर्वदा आक्रान्त नहीं कर सकते।

औषधोंका प्रभाव जीवित मानव शरीरयन्त्रपर सर्वदा हो सकता है।

३०—परन्तु कृत्रिम रोगजनक कारणोंकी अर्थात् औषधोंकी गतिविधि भिन्न होती है। प्रत्येक वास्तविक औषध प्रत्येक जीवित मानव पर सर्वदा और सब परिस्थितियोंमें अपना प्रभाव कर सकती है, और अपने विशेष लक्षण उत्पन्न कर सकती है। मात्रा पर्याप्त हो, तो लक्षण स्पष्टतया प्रकट होते हैं। अत एव

जाता है कि अल्प भोगकालकी औषधसे दीर्घ भोगकालके रोगका नाश हो जाता है। इसके लिये औषधमें रोग लक्षणोंके सदृश किन्तु अधिक बलशाली लक्षणसमूहको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य होनी आवश्यक है।

१—मनुष्यमें स्वास्थ्यकी दुर्व्यवस्थाको रोग कहनेका तात्पर्य यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि मानव शरीरके भीतर रोग नामधारी कोई भौतिक पदार्थ होता है जो उसे दुर्व्यवस्थित कर देता है अथवा मानव शरीरमें भौतिक परिवर्तनकर देता है। रोग तो जैवशक्ति (जीवनप्रवाह की) इच्छिकृत दुर्व्यवस्था ही है।

यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक जीवित मानव शरीरयन्त्र सर्वदा और सब परिस्थितियोंमें औषधजन्य विकारसे प्रभावित हो सकता है। प्राकृतिक रोगजनक कारणोंकी गति विधि, जैसा पहले कहा गया है, कदापि ऐसी नहीं होती।

प्राकृतिक रोगजनक कारणोंकी अपेक्षा कृत्रिम रोगजनक कारण, अर्थात् औषधशक्तियाँ, जीवित मानव शरीरयन्त्रको अधिक प्रभावित कर सकते हैं।

३३—अनुभव[1] भी अकाट्य रूपसे यही सिद्ध करता है कि जीवित मानव शरीरयन्त्र रोगजनक कारणोंसे एव सक्रामक रोगबीजोंसे स्वभावत उतना प्रभावित नहीं होता जितना कि औषधशक्तियोंसे होता है। रोगजनक कारणोंसे तथा सक्रामक रोगबीजोंसे स्वास्थ्यके दुर्व्यवस्थित हो जानेकी उतनी सभावना नहीं होती, जितनी कि औषधिशक्तियोंसे (दुर्व्यवस्थित) हो जानेकी (सभावना) होती है, अर्थात्, रोगजनक कारणोंमें मानव स्वास्थ्यको विकृत और दुर्व्यवस्थित करनेकी शक्ति स्वतत्र नहीं

१—इसे पुष्ट करनेवाली एक आकस्मिक घटना यह है। सन् १८०१ ई० से पूर्व जब आरक्तज्वर (Scarlatina) बालकोंमें व्यापक रूपसे फैलता था, तब उन्हीं बालकोंको वह आक्रान्त किया करता था जिनपर पहले कभी उसका आक्रमण न हुआ हो। परन्तु जिन बच्चोंको बेलाडोना-की अल्प मात्रा खिला दी गई वे सब सुरक्षित रहे। यदि महामारी जैसे रोगसे औषध मनुष्यको सुरक्षित रख सकती है, तो निःसन्देह यह प्रमाणित हो जाता है कि औषधोंमें मानव जैवशक्तिको प्रभावित करनेकी महती शक्ति होती है।

होती, नियमबद्ध और बहुधा अति नियमबद्ध होती है, परन्तु औषधोंकी शक्ति स्वतन्त्र और अवाधित होती है, तथा रोगजनक कारणोंकी शक्तिसे कहीं अधिक बलवती होती है।

चिकित्साके लिये सदृशविधानात्मक नियम ही उपयुक्त है। यह दो प्रकारसे प्रमाणित होता है; प्रथम तो इससे कि पुराने रोगोंकी चिकित्सा करनेमें असदृश विधान कभी सफल नहीं होता, द्वितीय इससे कि यदि मानव शरीरमें दो असदृश प्राकृतिक रोग एकसाथ हो जाते है, तो वे एक दूसरेको न तो हटा सकते है और न नष्ट कर सकते है।

३८—औषधोंमें प्राकृतिक रोगोंके नाश करनेकी सामर्थ्य केवल इस कारण नहीं होती कि वे अधिक बलशाली कृत्रिम रोग उत्पन्न कर सकती है, वरन् रोगनाश करनेमें समर्थ होनेके लिये सर्व-प्रथम उनमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि वे मानव शरीरयन्त्रमें, प्रस्तुत रोगके अत्यन्त सदृश कृत्रिम रोगको उत्पन्न कर सकें। अधिक बलशाली होनेके कारण वह कृत्रिम रोग, विचार और स्मरण शक्तिविहीन चेतन जैव शक्तिको आक्रान्त करके अपने वशमें कर लेता है, अर्थात् उसमें अपने अनुरूप परिवर्तन (दुर्व्यवस्था अथवा रुग्ण दशा) उत्पन्न कर देता है। प्राकृतिक रोगकृत जैव शक्तिकी पूर्व दुर्व्यवस्था तिरोहित ही नहीं हो जाती अपि तु समाप्त और नष्ट हो जाती है। यह नियम इतना ध्रुव है कि स्वयं प्रकृति भी नया असदृश रोग उत्पन्न करके रोगीमें पहलेसे विद्यमान रोगको नष्ट नहीं कर सकती, चाहे वह नया असदृश रोग कितना भी बलशाली क्यों न हो। इसी प्रकार रोगका नाश उन

औषधोंद्वारा चिकित्सा करनेसे कदापि नहीं हो सकता जो (औषध) मानव स्वस्थ शरीरमें विद्यमान रोगके सदृश कृत्रिम रोगको उत्पन्न करनेमें असमर्थ होती हैं।

३५—उपर्युक्त कथनको समझानेके लिये तीन प्रकारके उदाहरणोंका विचार किया जायगा जिनके द्वारा यह निश्चय हो सकेगा कि, जब किसी व्यक्तिमें दो असदृश प्राकृतिक रोग एक-साथ हो जाते हैं, तब क्या होता है, तथा चिकित्साजगत्‌मे रोगोंको नष्ट करनेके लिये ऐसी औषधोंके प्रयोगका क्या परिणाम होता है जो उनके (रोगोंके) सदृश कृत्रिम रोगोंको उत्पन्न करनेमे असमर्थ होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि स्वय प्रकृति असदृश रोगद्वारा—चाहे वह अधिक बलशाली क्यों न हो—किसी विद्यमान रोगको नष्ट नहीं कर सकती, और असदृश विधानके अनुसार प्रयुक्त की गई अत्यन्त बलवती औषध भी रोगोंका नाश करनेमे कभी समर्थ नहीं होती।

मानव शरीरमें विद्यमान रोग अपने समान बलवाले अथवा कम बलवाले नवीन असदृश रोगके प्रभावको नहीं होने देता।

३६ – (१) मानव शरीरमे जब दो असदृश रोगोंकी प्राप्ति होती है, तब, यदि पहलेसे विद्यमान रोगका बल नवीन असदृश रोगके बलसे अधिक अथवा उसके समान होता है, तो, वह नए रोगको होने ही नहीं देता, तथा पहले रोगपर ऐसे नवीन असदृश रोगका कुछ प्रभाव ही नहीं पडता। उग्र चिररोगसे पीडित रोगीको वसन्त ऋतुका सामान्य आमातिसार नहीं हो सकता। डा० लारीके अनुसार उरःक्षत तथा स्कर्वा नामक चर्मरोगसे पीड़ित व्यक्तियोंको प्लेगका आक्रमण नहीं होता। डा० जेनरके

अनुसार यदि बालास्थि-विकृति-पीड़ित बालकको शीतलाका टीका लगाया जावे तो वह उभड़ता ही नहीं। डा० वान हिल्डेनके मतमें वक्षःस्थलीय क्षयके रोगीको उग्र मैलेरिया ज्वर नहीं होता।

इसी प्रकार असदृश विधानात्मक चिकित्साद्वारा, यदि वह अत्यन्त उग्र न हो, तो चिर रोग जैसे-के-तैसे ही बने रहते हैं।

३७—साधारण एलोपैथिक विधानके अनुसार रोगोंकी चिकित्सा करनेमें ऐसी औषधोंका प्रयोग किया जाता है जो स्वस्थ व्यक्तियोंमें सदृश कृत्रिम दुर्व्यवस्था नहीं उत्पन्न कर सकतीं। अत एव एलोपैथिक औषधोंसे—यदि वे अत्यन्त उग्र नहीं होतीं तो[1]—कोई पुराना चिररोग परिवर्तित और विनष्ट नहीं होता, चाहे उनके द्वारा रोगीकी चिकित्सा वर्षों होती रहे। यह नित्यके अनुभवकी बात है इसलिये इसे उदाहरणद्वारा समझाना आवश्यक नहीं है।

अथवा, यदि नवीन असदृश रोग अधिक बलवान होता है, तो जबतक उसका भोग होता है तबतक शरीरमें पहलेसे विद्यमान अपेक्षाकृत अबल असदृश रोग केवल स्थगित रहता है, किन्तु कभी सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता।

३८—(२) अधिक बलशाली रोगकी प्राप्ति होनेपर रोगीका

१—यदि अत्यन्त उग्र औषधोंका प्रयोग किया जाता है, तो उनसे चिर रोगके स्थानमें कोई दूसरा भयावह रोग हो जाता है जिससे रोगीका जीवन ही संकटमें पड़ जाता है।

पहला (पुराना) रोग स्थगित हो जाता है और तबतक अक्रिय रहता है जबतक नए अधिक बलशाली रोगका भोग होता है। इसका भोग समाप्त हो जानेपर पहला अबल असदृश रोग (जो नष्ट नहीं हुआ था) पुन प्रकट हो जाता है।

डा० तल्पियसके कथनानुसार अपस्मार (मृगी) रोग से पीड़ित दो बालकोंको दद्रु (दाद) हो गई, और जबतक दद्रु रही तबतक वे अपस्मारके आक्रमणोंसे बचे रहे। परन्तु उनके शिरकी दद्रुका नाश होते ही उनका अपस्मार पहले की भाँति उन्हें पुन सताने लगा।

डा० शोफके अनुसार स्कर्वी नामक चर्मरोग हो जाने-पर खुजलीका रोग लुप्त हो गया तथा स्कर्वीसे मुक्ति होते ही खुजली पुन पूर्ववत् हो गई। इसी प्रकार उग्र आन्त्रिक ज्वरसे आक्रान्त हो जानेपर वक्षस्थलीय क्षयरोग स्थगित हो गया, परन्तु आन्त्रिक ज्वरसे मुक्ति होते ही क्षय प्रकट होकर अग्रसर होने लगा। यदि क्षयके रोगीको उन्माद हो जावे तो सम्पूर्ण लक्षण सहित क्षय लुप्त हो जाता है, परन्तु उन्माद-मुक्त होते ही रोगीका तुरन्त ही क्षयरोग घातक रूपमें आ घेरता है।

बड़ी और छोटी शीतला जब एक साथ फैलती हैं तब, यदि एक ही बालकपर दोनों का आक्रमण हो जाता है, तो प्रकट हुई छोटी शीतला बड़ी शीतलाके आक्रमणके कारण रुक जाती है, और बड़ी शीतलासे मुक्ति हो जानेतक पुन प्रकट नहीं होती। डा० मैनगटके अनुसार बड़ी शीतलाका टीका छोटी शीतलाके कारण चार दिनतक उभड़ता ही नहीं, छोटी शीतलासे मुक्ति हो जाने पर बड़ी शीतलाका टीका अपने क्रमपर अग्रसर होता है। बड़ी शीतलाका टीका लगनेके छ दिन पश्चात् भी यदि छोटी शीतलाका

आक्रमण होता है, तो टीकाका प्रदाहादि क्रम एक सप्ताहके लिये स्थगितहो जाता है, तथा छोटी शीतलाका क्रम पूरा हो जाने-पर ही आगे बढ़ता है। छोटी शीतलाके प्रकोपके समय कई व्यक्तियों को बड़ी शीतलाका टीका लगाया गया। पाँच-छ दिन-के पश्चात् उन्हें छोटी शीतला निकल आई, और टीकाका प्रदा-हादि छोटी शीतलाकी समाप्तितक रुका रहा, फिर उसने अपना क्रम पूरा किया।

विसर्पके समान आकारवाला, गलक्षतयुक्त, सिडनहमका वास्तविक स्कारलेटाइना (आरक्तज्वर) चौथे दिन शीतला निकल आनेसे स्थगित हो गया। शीतलाका क्रम पूरा हो जानेपर एव उसके शान्त हो जानेके पश्चात् रुके हुए आरक्त ज्वरने अपना भोग पूरा किया। अन्य अवसरपर दोनों रोगोंका बल समान होनेके कारण शीतलाके आरक्त उद्भेद, वास्तविक आरक्त ज्वरके हो जानेपर, आठवे दिन लुप्त हो गए। आरक्तज्वरके समाप्त हो जानेपर ही शीतलाने उभड़कर अपना भोग पूरा किया।

डा० कारटमने देखा कि छोटी शीतलाने बड़ी शीतलाको स्थगित कर दिया; आठवें दिन जब बड़ी शीतलाके उद्भेद लग-भग भर चुके थे, छोटी शीतला निकल आई और बड़ी शीतलाका क्रम स्थगित हो गया, तथा सोलहवें दिन छोटी शीतलाके समाप्त हो जानेपर बड़ी शीतलाका वह रूप प्रकट हुआ जो १० वें दिन होता। डा० कारटम इस बातके भी साक्षी हैं कि छोटी शीतलाके निकलनेपर बड़ी शीतलाका टीका उभड़ा तो, परन्तु छोटी शीतला-के समाप्त हो जानेके पश्चात् ही अग्रसर हो सका।

हैनिमैनने स्वयं यह देखा है कि शीतलाका टीका लगाने-पर और उसका लग-भग पूरा उभाड़ हो जानेपर कर्णमूल-

प्रदाह लुप्त हो गया। टीकाका क्रम पूरा हो जानेपर कर्णमूल-प्रदाह पुनः प्रकट हुआ और उसने अपना सात दिनका भोग पूरा किया।

सब असदृश रोगोंकी गति ऐसी ही होती है। उनमेंसे जो अधिक बलशाली होता है वह दूसरे अबल असदृश रोगको स्थगित कर देता है, परन्तु कोई किसीको नष्ट नहीं करता; भले एक दूसरेको जटिल कर दे; किन्तु आशु रोग एक-दूसरेको प्रायः जटिल नहीं करते

इसी प्रकार रोग-लक्षणोंके सदृश लक्षणोंको उत्पन्न करनेमें असमर्थ एलोपैथिक उग्र औषध चिर रोगको नष्ट नहीं कर सकतीं। जबतक उन औषधोंका प्रभाव रहता है रोग केवल स्थगित रहता है। तत्पश्चात् वह पूर्व दशामें अथवा और भी जटिल दशामें पुनः प्रकट हो जाता है।

३९—प्रचलित चिकित्साप्रणालीके (एलोपैथीके) अनुयायी भी इस तथ्यका अनुभव कई शताब्दियोंसे कर रहे हैं कि नवीन असदृश रोग उत्पन्न करके—चाहे वह कितना भी बलशाली क्यों न हो—स्वयं प्रकृति भी किसी रोगका नाश नहीं कर सकती। तथापि अज्ञात रोग उत्पन्न करनेवाली और निश्चय ही असदृश रोग उत्पन्न करनेवाली ऐलोपैथिक औषधोंद्वारा ही वे चिर रोगोंकी चिकित्सा करते हैं। अतः उनके विषयमें क्या कहा जाय। यदि मान लिया जाय कि उन चिकित्सकोंने प्रकृतिके इस नियमका अवलोकन सावधानीसे नहीं किया, तो भी अपनी असदृश चिकित्साके दुःखद परिमाणोंसे उन्हें यह तो निश्चय हो जाना चाहिए

था कि वे अनुपयुक्त एव अविश्वसनीय पथका अनुसरण कर रहे हैं। चिर रोगोंकी चिकित्सामें उन्होंने जब जब अपनी प्रणालीके अनुसार उग्र एलोपैथिक औषधोंका प्रयोग किया, तब-तब क्या उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ कि उन औषधोंसे असदृश कृत्रिम रोग ही तो उत्पन्न हुआ, तथा जबतक उसका भोग रहा तबतक मूल रोग रुका रहा, प्रकट नहीं होने पाया, अर्थात् केवल स्थगित रहा, परन्तु जीवनपर उन औषधोंका आघात जिस क्षण रोगीकी सहनशक्तिके बाहर हो गया, उसी क्षण मूल रोग अवश्यमेव प्रकट हो गया? उदाहरणके लिये खुजलीकी फुन्सियोंको ही ले लीजिए। उग्र रेचकोंका पुन पुन प्रयोग करनेपर वे त्वचापरसे लुप्त हो जाती हैं, परन्तु रेचक औषधोंद्वारा उत्पन्न असदृश कृत्रिम रोग, अर्थात् उदरामय, जब रोगीकी शक्तिके लिये असह्य हो जाता है तथा उसकी आँतोंको अधिक रेचक सहना असभव हो जाता है, उसी क्षण खुजलीकी फुन्सियाँ पूर्ववत् पुन निकल आती हैं, अथवा उसका आन्तरिक कच्छु—खुजलीका मूल रोग—किसी भयानक व्याधिके रूपमें प्रकट हो जाता है। इस अवस्थामें रोगीको मूल रोगके अतिरिक्त अपनी पाचन क्रियाके सत्यानाश हो जानेके कष्टप्रद परिणामको भी भोगना पडता है। फलत उसकी शक्तिका ह्रास भी हो जाता है।

इसी प्रकार कोई-कोई सामान्य चिकित्सक चिर रोगको समूल नष्ट करनेके लिये रोगीकी त्वचापर कृत्रिम क्षत बना देते हैं, अथवा बाह्य स्रावकारी क्षत कर देते हैं। ऐसे उपचारोंसे चिर रोगका न तो कभी नाश होता है और न चिकित्सकोंका उद्देश्य ही सफल होता है। कारण यही है कि ऐसे क्षतोंका आन्तरिक रोगोंसे कोई सबन्ध नहीं होता। हाँ इन प्रक्रियाओंसे रोगीके

तन्तु-समूहोंमें विशेष प्रकारकी उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। यह उत्तेजना कभी-कभी आन्तरिक रोगसे भी अधिक बलशाली असदृश रोगका रूप धारण कर लेती है। तब एक-दो सप्ताहके लिये मूल रोग शान्त एवं स्थगित हो जाता है; परन्तु केवल स्थगित और कुछ ही समयके लिये स्थगित हो जाता है। रोगीकी शक्तिका तो क्रमश: ह्रास ही होता जाता है। डा० पेचलिन प्रभृति चिकित्सकोंने अनुभव किया है कि अपस्मार-रोग-पीड़ित व्यक्तिके शरीरमें स्रावकारी क्षत बना देनेसे अपस्मार-रोग कई वर्षोंतक छिपा रहता है; परन्तु क्षतको बन्द करते ही अपस्मार निश्चय ही पुनः प्रकट हो जाता है।

कच्छुके (खुजलीके) लिये रेचक, तथा अपस्मारके लिये स्रावकारी क्षत उतने अधिक विजातीय, उतने अधिक असदृश, एवं उतने अधिक दुर्व्यवस्थाकारक नहीं हो सकते, जितनी अधिक विजातीय, असदृश एवं दुर्व्यवस्थाकारक प्रचलित प्रथाकी (एलोपैथीकी) औषध होती हैं जिनका व्यवहार असंख्य रोगोंमें किया जाता है और जो अज्ञातगुणवाले द्रव्योंको मिलाकर बनाई जाती हैं। रोगीको अशक्त कर देनेके अतिरिक्त तथा मूल रोगको कुछ समयके लिये स्थगित कर देनेके अतिरिक्त इन औषधोंके प्रयोगसे कुछ भी नहीं होता। हाँ, उन औषधोंका प्रयोग दीर्घ कालतक होते रहनेपर मूल रोगमें नवीन-नवीन जटिलता भले ही बढ़ जाती है।

अथवा, नवीन रोग शरीरयन्त्रपर अपनी क्रिया दीर्घकाल-तक करते-करते, अन्तमें पुराने असदृश रोगका साथी बन जाता है और दोनों रोगोंके योगसे द्विगुण (जटिल) रोग

हो जाता है। असदृश होनेके कारण दोनों एक-दूसरेको हटा नहीं सकते।

४०—(३) अथवा, यदि नया रोग बहुत समयतक शरीरयन्त्रमें वर्तमान रहकर पुराने असदृश रोगका साथी बन जाता है, तो दोनों असदृश रोगोंके योगसे रोगी दुगुना (जटिल) रोगी हो जाता है। ऐसी अवस्थामें दोनों रोग शरीरयन्त्रके भिन्न-भिन्न भागोंको अपना निवासस्थान बना लेते हैं, यथा, यदि उपदंश रोग-पीड़ित व्यक्तिको कच्छु हो जावे अथवा कच्छुपीड़ित व्यक्तिको उपदंश हो जावे, तो असदृश होनेके कारण उनमेंसे एक दूसरेको हटा नहीं सकता अथवा नष्ट नहीं कर सकता। पहले, तो जब कच्छुके लक्षण प्रकट होने लगते हैं, तब रतिज रोगके (उपदंशके) लक्षण रुके रहते हैं, स्थगित हो जाते हैं। कुछ समयके पश्चात्, दोनों रोगोंका बल समान होनेके कारण वे साथी हो जाते हैं, अर्थात् दोनों रोग शरीरयन्त्रमें अपने-अपने उपयुक्त भागको अपना अपना निवासस्थान बना लेते हैं। इस प्रकार रोगी अधिक अस्वस्थ हो जाता है और उसका स्वस्थ होना भी उतना ही कठिन हो जाता है।

१—ऐसे मिश्रितरोग-पीड़ित रोगियोंकी सावधान होकर परीक्षा करनेसे तथा उनके रोगमुक्त होनेके क्रमको अवलोकन करनेसे मुझे अब यह पूर्ण निश्चय होगया है कि वास्तवमें दोनों असदृश रोग एक-दूसरेमें मिल नहीं जाते, वरन वे रोगीके शरीरयन्त्रमें साथ-साथ निवास करते हैं। हाँ शरीरमें अपने अपने अनुकूल भागको अपना अपना निवासस्थल बना लेते हैं। ऐसे रोगीको रोगमुक्त करनेके लिये चिकित्सकको बड़ी सावधानीसे उपदंश-नाशक और कच्छुनाशक औषधोंका समय-समयपर प्रयोग करना पड़ता है।

जब दो असदृश रोगोंका इस प्रकार साथ (सहवास) हो जाता है, यथा बड़ी और छोटी शीतलाका, तब जैसा पहले बतलाया गया है, उनमेंसे एक दूसरेको प्रायः स्थगित कर देता है। दो असदृश आशु रोगोंके समकालीन विस्तृत प्रकोपके समय कभी-कभी दोनों असदृश आशु रोग एक ही व्यक्तिमें एकसाथ भोगते पाए गए हैं। कुछ समयतक तो दोनों रोग मानो मिश्रितसे हो जाते हैं। बड़ी शीतला और छोटी शीतलाके समकालीन प्रकोपके समय, एक बार डा० पी० रसलने अवलोकन किया कि ३०० व्यक्तियोंको दोनों रोगोंने एक साथ आक्रान्त किया, और प्रायः एकने दूसरेको स्थगित कर दिया। जब शीतलाका भोग २० दिनमें पूरा होगया, तब ही छोटी शीतला प्रकट हुई, तथा जब छोटी शीतलाका भोग १७ दिनमें समाप्त हुआ, तब ही बड़ी शीतला प्रकट हुई। अर्थात्, यद्यपि दोनोंका आक्रमण एकसाथ ही हुआ, तथापि एक रोगके भोगकी समाप्ति हो जानेपर ही दूसरा प्रकट हुआ। केवल एक रोगीमें दोनों एकसाथ ही प्रकट हुए और भोगते रहे। डा० रेनीने केवल दो लड़कियोंमें दोनों रोगोंको एकसाथ अग्रसर होते देखा। डा० जे. मारिसने भी केवल दो ऐसे रोगी पाए। डा० एट मूलरके तथा अन्य कई लेखकोंके ग्रन्थोंमें भी ऐसे रोगियोंका वर्णन पाया जाता है। डा० जेङ्करने भी बड़ी शीतलाको छोटी शीतलाके साथ-साथ तथा प्रसूतिरोगके साथ-साथ भोगते पाया। डा० जेनरने बड़ी शीतलाको उपदंश-पीड़ित एक रोगीमें उस समय अप्रतिहत रूपसे भोगते पाया जब उसकी चिकित्सा पारदद्वारा हो रही थी।

दो अथवा अधिक प्राकृतिक रोग एकही शरीरयन्त्रमें एकसाथ होकर रोगीकी दशाको कभी-कभी जटिल कर देते

हैं; परन्तु अनुपयुक्त एवं उग्र एलोपैथिक औपधोंके दीर्घ-कालीन सेवनसे तो, रोगीकी दशा प्रायः जटिल हो जाया करती है। औपधजन्य असदृश कृत्रिम रोग मूल रोगका साथी बन जाता है और रोगीको दुहरा रोग भोगना पड़ता है।

४१–जब एकही शरीरयन्त्रमें दो अथवा दोसे अधिक प्राकृतिक रोग एकसाथ हो जाते हैं, तब रोगीकी दशा जटिल हो जाती है। प्रकृतिमें ऐसी घटना प्रायः नहीं होती, कभी-कभी देखी जाती है। परन्तु एलोपैथिक उग्र औपधोंके सेवनसे तो ऐसा प्रायः ही हुआ करता है। ऐलोपैथिक औपध अनुपयुक्त होती हैं तथा उनसे असदृश कृत्रिम रोग ही उत्पन्न होते हैं। अतएव उनके दीर्घकालीन सेवनसे रोगीकी दशा प्रायः जटिल हो जाया करती है। अनुपयुक्त उग्र औपधोंको बार-बार सेवन करनेसे मूल रोगका नाश तो होता नहीं वरन् उससे नये-नये कष्टसाध्य उपसर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। वे नवीन उपसर्ग मूल रोगके सदृश नहीं किन्तु असदृश ही होते हैं। अतएव उनसे मूल रोगका विनाश नहीं हो सकता, वरन् धीरे-धीरे वे मूल रोगके साथी बन जाते हैं और रोगीकी दशाको जटिल करते रहते हैं। इस प्रकार रोगीमें नया असदृश कृत्रिम रोग चढ़ जाता है। फलतः उसे दुहरे रोगका कष्ट भोगना पड़ता है, अर्थात् उसकी दशा बिगड़ती ही जाती है और अन्तमें वह कष्ट-साध्य एवं दुःसाध्य हो जाती है।

चिकित्सा-जगत्‌के पत्र-पत्रिकाओंमें चिकित्सकोंके परामर्शके लिये प्रायः ऐसे ही जटिल रोग प्रकाशित किये जाते हैं। चिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें भी इसी प्रकारके जटिल रोगोंका वर्णन उदाहरणार्थ किया जाता है। इनसे उपर्युक्त तथ्य ही तो प्रमाणित होता है।

प्रमेह तथा कच्छुके सम्मिश्रणसे उपदंश-पीड़ित रोगियोंकी भी ऐसी ही जटिल् दशा हो जाया करती है। इस प्रकारके उदाहरण प्रायः नित्य मिला करते हैं। पारदसे बनी हुई विभिन्न एलोपैथिक औषधोंके दीर्घकालीन सेवनसे उपदंश रोगका नाश तो कदापि होता नहीं, वरन् पारदजन्य उपसर्ग[१] बढ़कर उपदंशके साथी बन जाते हैं। फिर मूल उपदंश रोग तथा बढ़े हुए पारदकृत उपसर्ग एकसाथ मिलकर रोगीकी जटिल दशाको अति विचित्र कर देते हैं। उसी विचित्र दशाको, रोग-राक्षसको, प्रच्छन्न उपदंश कहते हैं। वह असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य होता है।

एक-दूसरेको इस प्रकार जटिल कर देनेवाले रोग, आपसमें असदृश होनेके कारण ही, शरीरयन्त्रमें अपने-अपने अनुकूल भागको अपना-अपना निवासस्थल बना लेते हैं।

४८—जैसा पहले बतलाया गया है, कभी-कभी दो अथवा तीन प्राकृतिक रोग एक ही व्यक्तिमें एकसाथ हो जाते हैं; परन्तु जब वे एक-दूसरेसे असदृश होते हैं तभी ऐसी जटिल परिस्थिति संभव होती है। प्रकृतिके सनातन नियमोंके अनुसार ऐसे अस-

१—पारदसे उपदंशके सदृश उपसर्ग उत्पन्न होते हैं। इसीलिये सदृशविधानके (होमियोपैथीके) नियमसे यदि पारदका सेवन किया जावे, तो वह उपदंशका नाशकर देता है। परन्तु यदि पारदका प्रयोग बड़ी-बड़ी मात्रामें और बार-बार किया जावे तो ऐसी विचित्र व्याधियाँ हो जाती हैं जिनका उपदंशसे कोई सम्बन्ध नहीं होता; यथा अस्थिप्रदाह और अस्थिक्षत। यदि पारदकृत उपसर्गोंके साथ कच्छु मिल जावे, तो जटिलता बहुत बढ़ जाती है, शरीरयन्त्रमें नयी-नयी और विचित्र विचित्र व्याधियाँ बढ़ जाती हैं, तथा मानव शरीरयन्त्र भीषण उपद्रवोंका चैन बन जाता है।

दृश रोग न तो एक दूसरेको रोक सकते हैं, न विनष्ट कर सकते हैं, और न वे रोगीको रोगमुक्त ही कर सकते हैं। शरीरयन्त्रमें वे अलग-अलग बने रहते हैं, तथा अपने-अपने अनुकूल विशेष-विशेष भागों और अङ्गसमूहोंको अपना-अपना निवासस्थल बना लेते हैं। असदृश होनेके कारण अनेक रोगोंका एक ही व्यक्तिमें एकसाथ होना संभव हो सकता है।

परन्तु अधिक बलशाली सदृश रोग रोगीके पहले रोगको हटा देता है और नष्ट कर डालता है।

४३—जब शरीरयन्त्रमें दो सदृश रोग आ मिलते हैं, अर्थात् जब शरीरयन्त्रमें विद्यमान रोगसे अधिक बलशाली सदृश रोगकी प्राप्ति होती है, तब सर्वथा भिन्न परिणाम होता है। ऐसे उदाहरण हमें बतलाते हैं कि प्रकृतिके विधानमें रोगनाश कैसे हो सकता है, और वे हमें शिक्षा देते हैं कि मनुष्यको रोगनाश कैसे करना चाहिए।

दो सदृश रोगोंकी प्राप्ति होने पर ऐसा नहीं हो सकता कि उनमेंसे एक दूसरेको होने ही न दे। वे एक-दूसरेको स्थगित भी नहीं कर सकते, तथा दोनों एकसाथ रह भी नहीं सकते।

४४—३६ वें और ३७ वें सूत्रोंमें उदाहरणोंद्वारा प्रतिपादित किया गया है कि यदि पुराने (पहलेसे विद्यमान) रोगका बल तथा नये असदृश रोगका बल समान हो, अथवा यदि पुराना असदृश रोग नयेकी अपेक्षा अधिक बलवान हो, तो नया असदृश रोग होने ही नहीं पाता; परन्तु यदि पुराना और नया दोनों रोग सदृश

हो, तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि एक दूसरेको अग्रसर न होने दे। ३८ वें तथा ३६ वें सूत्रोंमें उदाहरणोंद्वारा समझाया गया है कि यदि नया असदृश रोग अधिक बलवान हो, तो वह पुराने कम बलवान असदृश रोगको तबतकके लिये स्थगित कर देता है जबतक नया असदृश रोग अपना क्रम पूरा नहीं कर लेता। नये रोगका क्रम पूरा हो जानेपर पुराना असदृश रोग पुनः प्रकट हो जाता है और अपना शेष भोग पूरा करता है। परन्तु सदृश रोग एक-दूसरेको स्थगित नहीं करते। ४० वें तथा ४१ वें सूत्रोंमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब दो अथवा अधिक असदृश रोग दीर्घ कालतक एक व्यक्तिमें साथ-साथ रहते हैं तब वे मिलकर रोगीकी दशाको दुहरे जटिल रोगमें परिणत कर देते हैं। परन्तु एक ही शरीरयन्त्रमें दो सदृश रोगोंकी प्राप्ति हो जानेपर, न तो वे एक-साथ रह सकते हैं, और न मिल कर रोगीकी दशाको दुहरी जटिल ही बना सकते हैं।

अधिक बलवान सदृश रोग अपेक्षाकृत कम बलवान रोगको कैसे नष्ट कर डालता है।

४५—जब-कभी एक शरीरयन्त्रमें दो ऐसे रोगोंका मिलाप हो जाता है जो प्रकारतः तो भिन्न हों[1] किन्तु जिनकी क्रिया और फल अर्थात् जिनके विकार और लक्षण अति सदृश हों, तब निश्चय ही उनमेंसे एक दूसरेको विनष्ट कर देता है। उनमें जो अधिक बलशाली होता है वह दूसरेको अर्थात् कम बलवान सदृश रोगको समूल नष्ट कर डालता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि सदृश किन्तु अधिक बलवान रोगको उत्पन्न करनेवाली शक्ति

१—इस सम्बन्धमें २६ वें सूत्रकी टिप्पणी देखिए।

जब मानव शरीरयन्त्रपर आक्रमण करती है, तब वह शरीर-यन्त्रके ठीक उन्हीं भागोंपर अपनी क्रिया करती है जिनपर पह-लेसे विद्यमान सदृश किन्तु कम बलवान रोग अपनी क्रिया कर रहा है। फलतः तब, उन भागोंपर कम बलवान रोग अपनी क्रिया नहीं कर सकता, और इस प्रकार वह विनष्ट हो जाता है[1]। इसे दूसरे शब्दोंमे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि नवीन सदृश किन्तु अधिक बलशाली रोगको उत्पन्न करनेवाली शक्ति रोगीकी अनुभव शक्तिको अपने वशमे कर लेती है, अत-एव अपने स्वभावकी विचित्रताके कारण जैवशक्तिको तब कम बलवान सदृश रोगका अनुभव नहीं हो सकता। फलत कम बलवान सदृश रोग समूल नष्ट हो जाता है। उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता। कारण यह है कि रोग कोई भौतिक पदार्थ तो होता नहीं। वह तो शक्तिसम्बन्धी-चेतनासम्बन्धी, अनुभूति-सम्बन्धी-विकारमात्र है। कम बलवान रोगका इस प्रकार नाश हो जानेपर, नवीन सदृश किन्तु अधिक बलशाली रोगको उत्पन्न करनेवाली शक्तिका केवल अस्थायी प्रभाव शेष रह जाता है।

सदृश किन्तु अधिक बलशाली रोगकी आकस्मिक प्राप्तिसे चिर रोगोंके विनष्ट होनेके उदाहरण।

४६-कभी-कभी प्रकृति भी चिकित्सा करती है और नवीन सदृश किन्तु अधिक बलशाली रोगको उत्पन्न करके पुरानी व्याधियोंको

१—यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे कि सूर्यसे प्रखर तेजसे दीपकका प्रकाश। दीपशिखाकी छाया हमारे नेत्रकी ज्ञानतन्तुओंपर तभी-तक रहती है जबतक सूर्यकी किरणें उनपर नहीं पड़तीं। सूर्यकी रश्मियोंके फैलते ही दीपशिखाका प्रभाव विनष्ट हो जाता है।

सदृश विधानद्वारा विनष्ट कर देती है। ऐसे अनेक उदाहरण हो सकते हैं, किन्तु यहाँ हम उन्हीं उदाहरणोंका विचार करेंगे जिनसे उपर्युक्त कथन सुनिश्चित एव असंदिग्ध रूपेण प्रमाणित हो सके। अत एव जिन रोगोंके नाममें किसी प्रकारका सन्देह न हो और जो सुनिश्चित रोगबीजसे उत्पन्न होते हैं उन्हीं रोगों-पर हम अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। ऐसे रोगोंमें शीतला प्रधान है। अनेक गम्भीर लक्षणोंके कारण शीतला परम भयानक रोग माना जाता है। शीतलारोगसे, अथवा उसके बीजसे प्रस्तुत शीत-लाके टीकासे, तत्सदृश लक्षणयुक्त अनेक व्याधियोंका नाश होते देखा गया है, यथा—

शीतलारोगमें उग्र नेत्रप्रदाह प्राय. हो जाया करता है। कभी-कभी रोगी अन्धे भी हो जाते हैं। इस सदृश लक्षणका विचार करके डा० लोरायने पुराने नेत्रप्रदाहपीडित रोगीको शीतलाका टीका लगाया और वह अच्छा हो गया।

एक रोगीके शिरमें त्वचासम्बन्धी संक्रामक व्याधि थी। शिरमें फुन्सियाँ होकर पपड़ी पड़ जाती थी। शिरपर बाह्य औषध लगाई गई जिससे वह व्याधि दब गई। परिणाम यह हुआ कि रोगी अन्धा हो गया। डा० क्लोनने उस रोगीको शीतला-का टीका लगाया और उसकी दृष्टि लौट आई।

शीतलासे अनेक रोगी बधिर हो जाते हैं। अनेकको श्वास-कृच्छ्र हो जाता है। डा० ज० फ० क्लोसने अवलोकन किया कि शीतलाका टीका जब उभडा, तब कई बधिर सुनने लगे तथा कई श्वासकृच्छ्रके रोगी रोगमुक्त हो गए।

शीतलारोगमें प्राय वृषण सूज जाते हैं। सूजन कठोर हो जाती है। इस सदृश लक्षणके कारण डा० क्लीनने आघातसे उत्पन्न हुई वृषणकी बड़ी और कठोर सूजनको शीतलाके टीकासे

नष्ट होते देखा। एक दूसरे रोगीको भी शीतलाके टीकासे इसी प्रकारका लाभ होते देखा गया।

आमातिसार शीतलारोगका कष्टप्रद लक्षण है। डा० वेएडने आमातिसारके एक रोगीको शीतलाके टीकासे अच्छा होते देखा।

डा० मूरी प्रभृति चिकित्सकोंका मत है कि शीतलाका टीका लगानेके पश्चात् ही, यदि शीतला रोगका आक्रमण हो जावे, तो टीकाके उपसर्ग नहीं होने पाते। कारण स्पष्ट ही है कि शीतलाके टीकासे स्वयं शीतला अधिक बलशाली सदृश रोग है; परन्तु यह भी देखा गया है कि यदि टीकाके पूरे उभड जानेपर शीतला-रोगका आक्रमण हो, तो सदृश विधानके नियमके अनुसार शीतला क्षीण और मृदु हो जाती है।

डा० क्लेवियर आदिके अनुसार शीतलाके टीकासे कई बालकोंके ऐसे पुराने त्वचाके रोग नष्ट हो गये जिनमें त्वचा लाल रङ्गकी होकर उसपर शीतलाकी फुन्सियोंके आकारकी फुन्सियाँ निकला करती थीं।

भुजाकी सूजन भी शीतलाके टीकाका एक विशेष लक्षण है। एक रोगीकी भुजामें पक्षाघातके सदृश पीड़ा और सूजन रहा करती थी। शीतलाका टीका लगानेसे उसकी व्याधि नष्ट हो गई।

शीतलाके टीकाके उभाड़के समय ज्वर हो जाता है। डा० हार्ईजने अवलोकन किया कि दो रोगियोंका सविराम ज्वर शीतलाके टीकासे नष्ट हो गया। इससे डा० हण्टरके मतकी पुष्टि हुई कि एक व्यक्तिमें दो प्रकारके ज्वर एकसाथ नहीं रह सकते।

छोटी शीतलामें कुकुरखाँसीके सदृश ज्वर और खाँसी भी रहती है। डा० बोस्किलनने देखा कि एक बार, जब छोटी शीतला और कुकुरखाँसी साथ-ही-साथ फैली थीं, कई बच्चे जिन्हें छोटी शीतला निकली कुकुरखाँसीसे बचे रहे। यदि कुकुरखाँसी

और शीतलामें आंशिक ही नहीं वरन् पूर्ण सादृश्य होता, अर्थात् यदि कुकुरखाँसीमें छोटी शीतलाके सदृश त्वचापर फुन्सियाँ भी निकलतीं, तो वे सब बालक जिन्हें छोटी शीतला हुई थी कुकुर-खाँसीसे निःसन्देह बच जाते। आंशिक सादृश्यके कारण ही छोटी शीतला बहुतोंको (सबको नहीं) कुकुरखाँसीसे बचा सकती है, तथा ऐसा वह तभी कर सकती है जब दोनों रोगोंका प्रकोप एकसाथ हो रहा हो।

जब छोटी शीतलाका रोग किसी ऐसे रोगके साथ-साथ हो जाता है जिसमें छोटी शीतलाके मुख्य लक्षणका, अर्थात् त्वचा-की फुन्सियोंका सादृश्य हो, तो निःसन्देह छोटी शीतला उस दूसरे रोगको हटा देती है और सदृश विधानके अनुसार उसका विनाश कर डालती है। डा० कोटँनने दादके सदृश त्वचाकी पुरानी व्याधिको छोटी शीतलासे समूल विनष्ट होते देखी। एक रोगीका मुखमण्डल, कण्ठ और भुजा प्रत्येक ऋतुपरिवर्तनके समय अत्यन्त दाहयुक्त छोटी-छोटी फुन्सियोंसे भर जाया करती थी। छ वर्षोंतक वह इस व्याधिसे पीड़ित रहा। तदनन्तर उसे एक बार शीतला निकली। उसकी पुरानी व्याधिने त्वचाकी सूजन-का रूप धारण कर लिया। छोटी शीतलाका क्रम पूरा हो जानेपर उसकी त्वचाकी व्याधि भी विनष्ट होगई, और फिर कभी नहीं हुई।

एक रोगीको यदि दो प्राकृतिक रोग एकसाथ हो जाते हैं, तो दोनों रोगोंके लक्षण सदृश होनेपर ही वे एक दूसरेको नष्टकर सकते हैं, यदि उनके लक्षण असदृश होते हैं तो कदापि ऐसा नहीं होता। इस तथ्यसे चिकित्सकोंको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि किस प्रकारकी औषधसे

वे रोगोंको निश्चयपूर्वक नष्ट कर सकते हैं, अर्थात् सदृश लक्षणयुक्त औषधोंसे ही रोगोंका नाश हो सकता है।

४७—उपर्युक्त उदाहरणोंके अतिरिक्त अन्यत्र कहींसे भी चिकित्सकोंको ऐसी स्पष्ट और युक्तिपूर्ण शिक्षा नहीं प्राप्त हो सकती जिसके द्वारा उन्हें विदित हो सके कि रोगोंका निश्चय-पूर्वक, शीघ्र, और समूल नाश करनेके लिये कैसी औषध चुनी जानी चाहिए।

४८—उपर्युक्त उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चिकित्सक अपनी कलासे, अथवा स्वयं प्रकृति अपने नैसर्गिक विधानोंसे किसी विद्यमान रोगको बलवानसे बलवान असदृश रोगजनक उपचारद्वारा नष्ट नहीं कर सकती। प्रकृतिका अपरिवर्तनीय सनातन नियम तो यही है कि किञ्चित् अधिक बलशाली सदृश रोगद्वारा ही किसी विद्यमान रोगका नाश हो सकता है। परन्तु अबतक इसका ज्ञान किसीको नहीं हुआ था।

४९—यदि प्राकृतिक सदृश विधानात्मक रोगोंका इतना अभाव न होता, और यदि निरीक्षकोंने प्राकृतिक सदृश विधानात्मक रोगनाशोंकी ओर अधिक ध्यान दिया होता, तो ऐसे वास्तविक एवं प्राकृतिक सदृश विधानात्मक रोगनाशोंके अधिकाधिक उदाहरणोंका संग्रह हो गया होता।

प्रकृतिके अधीन केवल इने-गिने ऐसे रोग हैं जिनके द्वारा मानव जातिके अन्य रोगोंकी सदृश विधानात्मक चिकित्सा हो सकती है। परन्तु वे प्राकृतिक उपचार बहुधा असुविधापूर्ण होते हैं।

मानव जातिके रोगोंका सदृशविधानात्मक उपचार करनेके

लिये शीतला[1], छोटी शीतला, तथा कच्छुचिररोगके अतिरिक्त महती प्रकृतिके अधीन अन्य अस्त्र नहीं हैं। प्रकृतिके ये उपचार ऐसे होते हैं कि जिस रोगको ये नष्ट करते हैं उससे भी कहीं अधिक भयावह और प्राण-सकटकारी स्वय होजाते हैं। इनके द्वारा किसी व्याधिका नाश हो जानेपर स्वय इनका नाश करनेके लिये उपचार करनेकी आवश्यकता पडती है। अत एव दोनों परिस्थितियोंके कारण प्रकृतिके इन अस्त्रोंको औषधरूपमें व्यवहार करना कठिन, अनिश्चित और भयावह हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी तो है कि मानव जातिकी असख्य व्याधियोंमेसे केवल कतिपयके लिये ही ये (शीतला, छोटी शीतला तथा कच्छु) सदृशविधानात्मक उपचार हो सकते हैं। साराश यह कि अपने इन भयावह अनिश्चित उपचारोंद्वारा प्रकृति बहुत थोडेसे रोगों को नष्ट कर सकती है। जिस प्रकार परिस्थितिके अनुसार औषध की मात्रा बढाई घटाई जासकती है, उस प्रकार इन रोगशक्तियोंको बढा घटाकर परिस्थितिके अनुकूल नहीं बनाया जा सकता। यदि इनके द्वारा (प्राकृतिक रोगोंके द्वारा) किसी सदृश चिरकालीन व्याधिकी चिकित्सा हो भी तो रोगीको उपचार रूपसे प्रयुक्त प्राकृतिक रोगके पूरे क्रमको भोगना पडेगा, शीतला, छोटी शीतला, अथवा कच्छुरोगको सपूर्ण सहना पडेगा। यह कितनी भयावह एव क्लान्तिकारक चिकित्सा होगी। इतना ही नहीं वरन् अन्तमे इन उपचारक रोगोंसे रोगीको मुक्त करनेके लिये भी तो अन्य उपचारोंकी आवश्यकता पडेगी। अत एव उपचाररूपमें प्राकृतिक रोगोका प्रयोग सर्वथा अवाञ्छनीय है। दैवसयोगसे कभी-कभी

---

[1] तथा गोशीतलासे निकाले गए पूयकी रोगजनक शक्ति। शीतलाका टीका लगानेमे इसी रसका प्रयोग किया जाता है।

इनके द्वारा किसी किसी व्याधिका आश्चर्यजनक नाश होते देखा जाता है। ऐसे उदाहरणोंसे प्रकृति का चिकित्सासम्बन्धी एकमात्र नियम—सम सम शमयति—प्रमाणित हो जाता है।

परंतु चिकित्सकों के अधीन असंख्य औषध हैं, जिनके द्वारा चिकित्सा करनेमें प्राकृतिक रोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक सुविधा भी होती है।

५१—उपर्युक्त तथ्योंसे बुद्धिमान व्यक्तिको चिकित्साके इस विधानका स्पष्ट बोध हो सकता है। जड प्रकृति अपनी स्वच्छन्द गतिसे कतिपय व्याधियोंको ही नष्ट कर सकती है, परन्तु इस सम्बन्धमें मनुष्यको बहुत अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। सृष्टिमें औषधरूपी रोगजनक अस्त्रोंकी संख्या सहस्राधिक है और वे प्रायः सर्वत्र पाई जाती हैं। उनपर मनुष्यका पूर्ण अधिकार है। उनके द्वारा मनुष्य अपनी रोगपीडित नातिक कष्टोंको दूर कर सकता है। कल्पनीय तथा अकल्पनीय सब प्रकारके प्राकृतिक रोगोंका सदृश विधानात्मक उपचार करनेके लिये औषधोंद्वारा भिन्न भिन्न प्रकारके कृत्रिम रोग उत्पन्न किए जा सकते हैं।

प्राकृतिक विधानसे खुजलीरोगद्वारा किसी व्याधिका नाश हो जानेपर स्वयं खुजलीका नाश करनेके लिये उपचारकी आवश्यकता होती है। परन्तु औषध शक्तिसे रोगका नाश हो जानेपर औषधके प्रभावको हटानेके लिये किसी उपचार की आवश्यकता नहीं होती, वरन् जैव शक्ति स्वयं उसे वशमें कर लेती है एवं उसका नाश अपने आप हो जाता है।

कृत्रिम रोग जनक अस्त्रोंको अर्थात् औषधोंको विभाजित एवं शक्तिकृत करके चिकित्सक उन्हें अत्यन्त सूक्ष्म कर सकते हैं।

उनकी मात्राको इतना अल्पाल्प बनाया जा सकता है कि जिस सदृश प्राकृतिक रोगका नाश करनेके लिये उनका प्रयोग करना हो, उसके बलसे कुछ ही अधिक बल उन मात्राओं में होता है। अतएव इस अनुपमेय चिकित्सा पद्धतिके अनुसार पुराने दुःसाध्य रोगका भी समूल नाश करनेके लिये शरीरयन्त्रपर किसी प्रकारके बलप्रयोगकी आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्युत इस विधानद्वारा चिकित्सा करनेसे कष्टप्रद प्राकृतिक सदृश रोग समूल नष्ट हो जाते हैं, और रोगीको शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ हो जाता है।

रोगमुक्तिके दो ही मुख्य विधान हैं, यथा—सदृशविधान अर्थात् होमियोपैथी, और असदृश विधान अर्थात् एलोपैथी। दोनों एक दूसरे से विपरीत हैं; न तो उनमें समानता है, और न वे एक दूसरे के साथ मिल सकते हैं।

५२—रोगमुक्तिके दो ही मुख्य विधान हैं। एक है सदृश विधान अर्थात् होमियोपैथी। प्रकृतिका सूक्ष्म निरीक्षण, सावधान परीक्षण, तथा विशुद्ध अनुभव सदृश विधानके आधार हैं। दूसरा है असदृशविधान, अर्थात् एलोपैथी जिसमें उपर्युक्त आधारोंका कोई विचार नहीं किया जाता। ये दोनों पद्धतियाँ एक दूसरेसे विपरीत हैं। जिनको दोनों प्रणालियोंमेंसे एकका भी ज्ञान नहीं होता उनको ही यह भ्रम हो सकता है कि दोनों विधानोंमें समानता है अथवा दोनों सम्मिलित भी किए जा सकते हैं। रोगीकी इच्छानुसार कभी सदृश विधानसे और कभी असदृश विधानसे चिकित्सा करके ऐसे ही चिकित्सक अपनेको उपहास्पद बना सकते हैं। वास्तवमें तो यह प्रमाद दैवी सदृश विधानके प्रति दण्डनीय विश्वासघात है।

प्राकृतिक अमोघ नियममूलक सदृशविधान ही चिकित्साका एकमात्र सर्वोत्तम विधान सिद्ध होता है।

५३—सदृशविधानके अनुसार चिकित्सा करनेसे ही वास्तवमें कष्टरहित रोगमुक्तियाँ होती हैं। अनुभव और अनुमानसे भी यही प्रमाणित होता है कि सदृशविधान ही निःसन्देह परम उपयुक्त चिकित्सा-विधान है (सूत्र ७ से २५)। प्रकृतिका अचूक सनातन नियम इस चिकित्सा-कलाका आधार है। अतएव इस समर्थ कलाके द्वारा रोग अत्यन्त शीघ्र, तथा अत्यन्त निश्चित रूपसे समूल नष्ट हो जाते हैं।

रोगोंका नाश करनेके लिये विशुद्ध सदृशविधानकी कला एकमात्र सच्चा साधन है। यही मानवकला रोगोंका नाश कर सकती है। रोगमुक्तिका सबसे सीधा मार्ग यही है। दो बिन्दुओंके बीच सीधी रेखा जैसे एक ही हो सकती है, उसी प्रकार रोगमुक्तिका सुनिश्चित मार्ग भी यही एक है।

एलोपैथिक विधानके अन्तर्गत एक-दूसरेका अनुकरण करती हुईं भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ प्रकट हुईं, और सबने अपनी प्रणालीको तर्कयुक्त प्रणाली घोषित किया। परन्तु एलोपैथिक विधानके अनुसार सबने रोगोंको दूषित भौतिक पदार्थ ही माना और उनका वर्गीकरण किया; तथा अनुमानोंके आधार पर और मिश्रित औषधोंके प्रयोगका आदेश देनेवाले विधिपत्रोंके आधारपर ही भेषजलक्षण-संग्रहको प्रस्तुत किया।

५४—एलोपैथिक विधानके अनुसार रोगोंका नाश करनेके लिये बहुतसी वस्तुओंका उपयोग किया गया। परन्तु प्रायः अनु-

पयुक्त वस्तुओंका ही उपयोग किया गया। भिन्न भिन्न प्रणालियों के रूपमें ऐलोपैथिक विधान ही दीर्घ कालतक रोगनाश करनेका प्रधान साधन बना रहा। वे प्रणालियाँ एक-दूसरेका अनुकरण करती हुई भी परस्पर बहुत भिन्न थीं और सब अपनेको तर्कयुक्त चिकित्साप्रणाली[1] मानती थीं।

एलोपैथिक विधानके संस्थापकोंने न तो प्रकृतिका वास्तविक अनुसन्धान किया और न अनुभवोंद्वारा पक्षपातरहित शिक्षा ही ग्रहण की। उन्होंने व्यर्थ ही यह अभिमान कर लिया कि वे स्वस्थ एवं अस्वस्थ व्यक्तियोंके आन्तरिक जीवन रहस्यको जान सकते हैं। ऐसी निराधार कल्पनाओं और मनमाने अनुमानोंके अनुसार ही विधिपत्रोंमें वे यह उल्लेख करते थे कि रोगीके शरीर यन्त्रमें अमुक दूषित पदार्थ है[2], तथा रोगीको रोगमुक्त करनेके लिये उस दूषित पदार्थको अमुक विधिसे हटा देना चाहिए।

वे यह मानते थे कि रोग बहुधा एक ही रूपमें बार बार प्रकट होते हैं। इसीलिये प्राय सभी एलोपैथिक प्रणालियोंमें रोगोंके

१—प्रकृतिके सच्चे अनुसन्धान, विशुद्ध परीक्षण एवं पक्षपातरहित अनुभवके आधारपर ही विज्ञानकी प्रतिष्ठा हो सकती है। परन्तु एलोपैथिक प्रणालियोंके संस्थापकोंने मान लिया कि निराधार कल्पना तथा शब्दाडम्बरमात्र भी कदाचित् विज्ञानके आधार हो सकते हैं।

२—जीवित शरीरयन्त्रमें जिस प्रकार औषधकी शक्तिमात्रसे कृत्रिम विकार उत्पन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार रोगजनक कारणोंकी शक्तिके प्रभावसे जीवित शरीरयन्त्रमें रोग भी उत्पन्न होते हैं। इस तथ्यकी कल्पना भी किसीको नहीं हो सकी; अतएव कुछ ही समय पूर्वतक यही माना जाता था कि रोग मानव शरीरमें छिपा हुआ कोई पदार्थविशेष होता है, उसीको निकाल देनेसे रोगमुक्ति हो सकती है।

मानचित्रोंकी भिन्न-भिन्न कल्पना कर ली गई और उनके भिन्न-भिन्न नाम भी रख लिए गए, तथा भिन्न भिन्न प्रकारसे रोगोंका वर्गीकरण भी किया गया। औषधोंमें क्रियाओंका आरोप कर लिया गया और उनके द्वारा रोगोंका नाश हो जाना सम्भव मान लिया गया। इसी आधारपर भेषजलक्षण-संग्रहके[1] अनेक ग्रन्थ भी बन गए।

उक्त हानिकारक चिकित्साविधानमें एलोपैथिक चिकित्सकों के पास अस्थायी उपकार करनेवाले उपचारोंके अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता; और उन्हींपर (अस्थायी उपकार करने वाले उपचारोंपर) रोगियोंकी श्रद्धा अब भी हो सकती है।

५५—परन्तु जनताको शीघ्र ही यह बोध हो गया कि एलोपैथिक विधानकी नित-नयी प्रणालियोंके प्रचारसे तथा उनके उपचारोंका सविधि सेवन करनेपर भी रोगियोंके कष्टोंमें वृद्धि और उग्रता ही तो होती जाती है। एलोपैथिक चिकित्सकोंका परित्याग भी कभी हो गया होता, यदि रोगियोंको यह न विदित होता कि उनके पास रोगियोंपर परीक्षित कुछ ऐसे उपचार हैं जिनके द्वारा

१—रोगियोंकी रोगमुक्तिके लिये चिकित्सकोंने समय-समय पर जो विधिपत्र लिखे, वे ही भेषज-लक्षण-संग्रहके आधार बन गए। विधिपत्रोंमें सर्वदा विभिन्न औषधोंको मिश्रित करनेका तथा ऐसे विचित्र मिश्रणोंकी बड़ी-बड़ी मात्राको बारबार दुहराने का आदेश दिया जाता था। विशेषत वमन विरेचनादि अनेक ह्रासकारी प्रक्रियाओंका भी समावेश करके उन प्रतिनिविष्ट बुद्धिवाले चिकित्सकोंने बहुमूल्य किन्तु क्षणभंगुर मानव जीवनको सङ्कटमें डालकर प्रमादकी सीमा भी पार कर डाली।

कष्टका अस्थायी उपशम तुरन्त हो जाता है, और इसी कारण अबतक उनका मान होता जा रहा है।

५६—डाक्टर गैलेन्स 'व्याधि-विपरीत' चिकित्सा विधिके प्रवर्तक थे। उनके उपदेशोंके अनुसार ही अस्थायी उपशम करनेवाली चिकित्सा-विधिका प्रचार हुआ। उस विधिके अनुसार रोगीके कष्टको तुरन्त घटाकर चिकित्सकगण यद्यपि धोखा ही देते रहे तथापि १७०० वर्षोंतक वे जनताके विश्वासपात्र बने रहे। परन्तु जैसा आगे विचार किया जायगा, लम्बी अवधिके रोगोंमें व्याधि विपरीत चिकित्सा अति हानिकारक एव सिद्धान्ततः असहायकर होती है। एलोपैथिक चिकित्साविधियोंमें यही एक ऐसी विधि है जिसका कुछ प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्राकृतिक रोगोंकी यातनाओंके किसी अंशसे हो सकता है। परन्तु यह सम्बन्ध कैसा है? यदि धोखा नहीं देना है, और यदि चिररोगपीडित रोगीको उपहासकी सामग्री नहीं बनाना है, तो यही कहना पडेगा कि यह (अत्यन्त विपरीत) सम्बन्ध सर्वथा अनुपयुक्त है और सावधानीसे परित्याग करने योग्य ही है[1]।

१—आइसोपैथी (Isopathy) नामक एक तीसरा चिकित्सा पद्धति कुछ समयसे प्रचलित हो गई है। इस पद्धतिके अनुसार प्रत्येक रोगको उत्पन्न करनेवाला सक्रामक रोगविष उसी रोगको नष्ट करनेके लिये प्रयुक्त किया जाता है। यदि मान लिया जाय कि यह सभव है, तो यह पद्धति भी सदृश विधानके अन्तर्गत ही हो जाती है, कारण कि अन्ततोगत्वा इस विधिके अनुसार भी रोगीके ही रोगविषको शक्तिकृत करके रोगीको दिया जाता है। दोनो सदृश होते हैं अतएव रोगमुक्ति सभव हो सकती है।

परन्तु रोग जनक विषसे ही रोगोंको नष्ट करनेका प्रयास मानव बुद्धिके

विपरीतविधान अथवा अस्थायी (उपकार करनेवाले) विधान-के अनुसार विपरीत क्रिया करनेवाली औषधसे रोगके केवल एक लक्षणकी चिकित्सा की जाती है।

५७—विपरीत विधानद्वारा चिकित्सा करनेका क्रम यह है

प्रतिकूल तथा अनुभवके विरुद्ध है। इस विधिके संस्थापकोंने कदाचित् कुछ इस प्रकार विचार किया होगा कि "गोशीतला विषका टीका लगानेसे मनुष्य शीतलारोगके आक्रमणसे बच जाता है और शीतला निकलनेके पहले ही मनुष्य शीतलारोगसे मुक्त हो जाता है।" गोशीतला और शीतला सदृश रोग हो सकते हैं परन्तु वे एक ही रोग कदापि नहीं हैं। दोनोंमें कई प्रकारका पार्थक्य है, यथा, गोशीतलाकी अवधि शीतलाकी अवधिसे कम होती है। शीतलाकी अपेक्षा गोशीतला मृदु रोग है। विशेष भेद तो यह है कि जिस प्रकार शीतलारोग निकट रहनेवाले बालकोंमें फैल जाता है उस प्रकार केवल निकट रहनेके कारण गोशीतला किसी मनुष्य पर कदापि आक्रमण नहीं करता। टीकाकी विश्वव्यापी प्रथासे अब तो शीतलारोगका प्रकोप इतना मृदु हो गया है कि इस सुगम अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि पहले शीतलारोग कितना भयंकर होता था।

इस प्रकार पशुओंके कुछ रोगोंसे मानवजातिके कतिपय सदृश रोगोंके लिये औषध प्राप्त हो सकती है। इससे तो सदृश विधानात्मक उपचारोंकी संख्या ही बढ़ जाती है।

परन्तु मनुष्यके रोगविषका प्रयोग उसीके रोगको नष्ट करनेके लिये किया जाना अथवा किसी रोगसे उत्पन्न हुई अन्य व्याधियोंको नष्ट करनेके लिये उसी रोगके विषका प्रयोग करना सर्वथा असंगत है। ऐसे विधानसे रोग और कष्टकी वृद्धिके अतिरिक्त कुछ और फल नहीं हो सकता।

कि रोगके अनेक लक्षणोंमेसे केवल एक अति कष्टप्रद लक्षणके लिये ऐसी औषधका प्रयोग किया जाता है जो उस लक्षणके विपरीत लक्षणको उत्पन्न करनेमें प्रसिद्ध हो, उसे दवा सकती हो, और इस प्रकार रोगीको अतिशीघ्र अस्थायी लाभ पहुँचा सकती हो। रोगीके शेष लक्षणोंकी कोई चिन्ता ही नहीं की जाती। उनपर ध्यान ही नहीं दिया जाता। सब प्रकारकी पीडाके लिये बडी मात्रामें अफीम दी जाती है, कारण कि अफीम अनुभव-शक्तिको शीघ्र ही मन्द कर देती है। उदरामयके लिये भी यही औषध दी जाती है, कारण कि आँतोंकी सकोचन क्रिया अफीमसे सहसा रुक जाती है तथा आँतें अनुभवशून्य हो जाती हैं। अनिद्राके लिये भी इसी औषधका आश्रय लिया जाता है, कारण कि अफीमसे शीघ्र ही तन्द्रा हो जाती है और झाँप लग जाती है। दीर्घ कालसे मलावरोध-पीडित रोगीको रेचक दिया जाता है। यदि हाथ जल जावे तो उसे शीतल जलमें डुबाया जाता है। जलमें शीतलता अधिक होनेके कारण रोगीकी दाहयुक्त पीडामें तुरत उपशम हो जाता है, मानो मन्त्रसे फूँक दिया गया हो। जिनको शीत अधिक लगती हो अथवा जिनके शरीरयन्त्रमें जैव तापकी कमी हो गई हो, उनको उष्ण जलसे स्नान कराया जाता है जिससे उनकी शीत तुरन्त दूर हो जाती है। दीर्घ कालसे अशक्त हुए रोगीको मदिरापान कराया जाता है जिससे रोगीको तत्काल शक्ति-सञ्चार एवं स्फूर्तिका अनुभव होने लगता है। इसी प्रकार कतिपय अन्य उपचारोंके प्रयोग किये जाते हैं, परन्तु उपर्युक्त उपचारोंके अतिरिक्त इने-गिने पदार्थोंकी ही विचित्र क्रियाओंको वे जानते हैं।

विपरीत विधानमें इतना ही दोष नहीं है कि उसके अनुसार रोगके केवल एक लक्षणकी चिकित्सा होती है, वरन् यह

भी दोष है कि कठिन पुराने रोगोंमें क्षणिक दिखाऊ उप-
शम होनेके पश्चात् वास्तविक वृद्धि हो जाती है।

५८—विपरीत विधानकी चिकित्साविधि अत्यन्त दोषपूर्ण एवं लाक्षणिक ही होती है; (देखिये ७वें सूत्रकी टिप्पणी)। इस विधानके अनुसार रोगके केवल एक लक्षणपर ही ध्यान दिया जाता है। समग्र रोगकी चिकित्सा नहीं की जाती, वरन् उसके एक अंशकी ही चिकित्सा होती है। अतएव इस चिकित्साविधिसे यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि रोगीका समस्त रोग नष्ट हो जायगा। यद्यपि रोगी तो यही चाहता है कि उसका पूरा रोग दूर हो जावे, तथापि विपरीत विधानसे ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

विपरीत चिकित्साविधानका मूल्याङ्कन करनेमें उपर्युक्त दोषों-का विचार हम भले ही न करें, परन्तु इस कटु अनुभवका विचार तो हमें करना ही पड़ेगा कि जिन चिर अथवा कठिन रोगोंमें इस चिकित्साविधिका प्रयोग किया जाता है, निरपवादरूपेण उन सबमें परिणाम यही होता है कि जिस लक्षणके विरुद्ध उसका प्रयोग होता है वह क्षणभरके लिये तो अवश्य घट जाता है, परंतु यह उपशम अस्थायी ही रहता है और शीघ्र ही वही लक्षण उग्र और बढ़े हुए रूपमें पुनः प्रकट हो जाता है; वास्तवमें तो संपूर्ण रोग ही बढ़ जाता है।

प्रत्येक सावधान निरीक्षक भी इसी निष्कर्षपर पहुँचेगा कि विपरीत विधानद्वारा क्षणिक अस्थायी उपशम हो जानेके पश्चात्, निरपवादरूपेण प्रत्येक रोगीका रोग बढ़ जाता है; परन्तु इस विधानके अनुयायी चिकित्सक बात बनाकर रोगीको समझाया करते हैं कि रोगकी विषमताके कारण ऐसा होता है, अथवा रोग

की यह विषमता पहले पहल प्रकट हुई है। कभी कभी वे यह भी कह देते हैं कि रोगीको दूसरा नया ही रोग हो गया[1]।

कतिपय विपरीत निधानात्मक उपचारोंके दुष्परिणाम।

५६—अस्थायी उपकार करनेवाले विपरीत उपचारोंद्वारा जब जब विषम रोगोंके मुख्य लक्षणोंकी चिकित्सा की गई, तब तब उपशम होनेके कुछ घण्टे पश्चात् ही वे ही लक्षण पुन प्रकट हो गए, और सम्पूर्ण रोग प्रत्यक्षरूपेण बढ गया। दिनकी लगातार निद्राके वेगको दूर करनेके लिये "काफी" पिलाई गई। काफीकी प्राथमिक क्रियासे स्फूर्ति होती है। अत पहले तो दिनकी निद्राके वेग घट गए। परन्तु जब काफीका प्रभाव क्षीण हो गया तब दिनमें निद्रा आना बढ गया। रात्रिकी अनिद्राको दूर करनेके लिये रोगीके अन्य लक्षणोंका विचार न करके उसे सायकालमें "अफीम" दी गई। अफीमकी प्राथमिक क्रियासे उस रातमें रोगी

१—यद्यपि चिकित्सकगण अबतक सूक्ष्म अवलोकन नहीं करते थे तथापि विपरीत चिकित्साद्वारा अस्थायी उपशम हो जानेके पश्चात् जो रोगवृद्धि निश्चित होती है उससे वे अनभिज्ञ भी नहीं थे। कई चिकित्सकोंने इस अनुभवका उल्लेख भी किया है यथा डा० जे० एच० शूल्ज (J H Schulze), डा० विल्स (Wills), तथा डा० जे० हन्टर (J Hunter) तो स्पष्ट ही कहते हैं कि "मदिरा तथा हृदयको उत्तेजित करनेवाली अन्य औषधासे शक्तिहीन रोगीकी शक्ति वास्तवमें बढती नहीं, हाँ उसके शरीरयन्त्रकी क्रियामें वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम यही होता है कि शरीरयन्त्रकी क्रिया जितनी बढ जाती है शक्तिका ह्रास भी उतना ही अधिक होता है, इस प्रक्रियासे लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

को (अचेत) निद्रा आई, परन्तु दूसरी ही रातसे उसकी अनिद्रा पूर्वापेक्षा बढ गई। रोगीके शेष लक्षणोंका विचार न करके संग्रहणीको बन्द करनेके लिये अफीमका प्रयोग किया गया। अफीमकी प्राथमिक क्रियाके अनुसार कुछ समयके लिये उसका उदरामय रुक गया। परन्तु शीघ्र ही पुन. उदरामय हो गया और उसकी संग्रहणी पहलेसे भी अधिक भयंकर हो गई। बारंबार होनेवाली सब प्रकारकी पीडाओंको अफीमसे दबाया जाता है, परन्तु पीड़ामें उपशम होनेके कुछ ही समय पश्चात् पीडाएँ बढ़ ही नहीं जाती हैं किन्तु भयकर और असह्य हो जाती हैं, अथवा उनके स्थानमे कोई अन्य भयंकर व्याधि हो जाती है। रातमे आनेवाली पुरानी खाँसीको दूर करनेके लिये उन चिकित्सकोंकी जानकारीमें अफीमसे बढकर कोई दूसरा उपचार नहीं होता। अफीमकी प्राथमिक क्रियाद्वारा प्राय: सब प्रकारकी उत्तेजित अवस्थामे उपशम हो जाया करता है, वे दब जाती हैं। अतएव अफीमके प्रयोगसे एक रात खाँसीका वेग कदाचित् कम हो जाता है, परन्तु आगे आनेवाली रातोंमे तो उसका वेग पहलेसे भी अधिक हो जाता है। यदि इस अस्थायी उपकार करनेवाले उपचारकी मात्राको बढा-घढ़ाकर खाँसीको दबानेका प्रयत्न बारंबार किया जावे, तो ज्वर और प्रस्वेद भी होने लगता है। 'कैन्थराइडिस' नामक औषधकी विपरीत क्रियाद्वारा मूत्राशयकी दुर्बलताको एव उससे उत्पन्न हुए मूत्रावरोधको दूर करनेका प्रयत्न किया गया। कैन्थराइडिस मूत्रप्रवाहको उत्तेजित करता है। अतएव पहले तो मूत्रप्रवाह बढा, परन्तु तत्पश्चात् ही मूत्राशयकी उत्तेजना घट गई, संकोचन शक्ति जाती रही, एवं उसकी दशा पक्षाघात-पीडितसी हो गई। पुराने मलावरोधको दूर करनेके लिये बडी-बडी मात्राओंमे रेचक औषध और

लवण दिये जाते हैं, परन्तु परिणाममे घोर मलावरोध ही हो जाता है। साधारण (एलोपैथिक) चिकित्सक मदिराके प्रयोगसे चिरकालीन अशक्तताको हटानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु मदिराकी प्राथमिक क्रियासे ही उत्तेजना होती है। प्रतिक्रियाकी अवस्थामे तो शक्तिका घोर अवसाद ही हो जाता है। तीते और कड़वे पदार्थोंके तथा उपस्करोंके (मसालोंके) प्रयोगसे दीर्घकालसे अशक्त और निष्क्रिय पाकस्थलीको शक्तिप्रदान करनेकी तथा उत्तेजित करनेकी चेष्टा की जाती है, परन्तु जब उनकी क्रिया समाप्त हो जाती है, तब पाकस्थली अधिक अशक्त और निष्क्रिय हो जाती है। जैव तापका चिरकालीन अभाव तथा शीत बोध करनेकी प्रवृत्ति गरम जलके स्नानसे नि सन्देह तुरन्त घट जाती है, परन्तु शीघ्र ही रोगी अधिक अशक्त हो जाता है और शीतका बोध अधिक होने लगता है। अग्निदग्ध अङ्गपर शीतल जलका उपचार तुरन्त ही सुखद प्रतीत होता है, परन्तु जलके उपचारको बन्द करते ही जले हुए अङ्गमे दाहकी अनुभूति असह्य एव भयकर हो जाती है। नासिकामे स्राव उत्पन्न करनेवाले उपचारोंद्वारा नासिकावरोधयुक्त पुराने शैत्यको नष्ट करनेका प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यह विचार नहीं किया जाता कि प्रतिक्रियाकी अवस्थामें ऐसे विपरीत उपचारोंसे रोग बढ ही जाता है तथा नासिका अधिक अवरुद्ध हो जाती है। विद्युत् शक्ति की प्राथमिक क्रिया मांस पेशियोंको उत्तेजित करती है, अतएव विद्युत्-शक्तिके प्रयोगद्वारा बहुत दिनोंसे अशक्त और पक्षाघात-पीड़ित अङ्गकी मांस-पेशियाँ शीघ्र ही उत्तेजित हो जाती हैं और अङ्ग गतिशील हो जाता है, परन्तु परिणाममे मांसपेशियोंकी सम्पूर्ण उत्तेजनाशक्तिका लोप होकर अङ्ग निष्क्रिय हो जाता है। रक्तस्रावकारक शिरके दीर्घकालीन

रक्ताधिक्यको दूर करनेकी चेष्टा की जाती है, परन्तु शिरका रक्त-सञ्चय बढ़ ही जाता है। आन्त्रिक ज्वर सम्बन्धी मानसिक तथा शारीरिक अवसादको दूर करनेके लिये साधारण (एलोपैथिक) चिकित्सक "वैलेरियन" नामक औषधकी बड़ी-बड़ी मात्राके प्रयोग-को ही एकमात्र सर्वोत्तम उपचार मानते हैं। कारण कि स्फूर्ति-दायक और गति उत्पन्न करनेवाली औषधोंमें यह अति सुप्र-सिद्ध है। परन्तु वे यह नहीं विचारते कि वैलेरियनकी प्राथमिक क्रियामें ही ये गुण हैं, परिणामतः तो उसकी प्रतिक्रियासे घोर अचेतनता और निष्क्रियता ही उत्पन्न होती है, जिससे रोगीकी मानसिक एवं शारीरिक दोनों शक्तियोंका पूर्ण पक्षाघात (मरण) हो जाता है। उन्हें यह बोध नहीं होता कि वैलेरियनद्वारा विप-रीत उपचार करके जिस कृत्रिम रोगको वे बहुत अधिक मात्रामें उत्पन्न कर देते हैं प्रायः उसीसे रोगी मर जाया करते हैं। पुरानी प्रथाके (एलोपैथिक) चिकित्सक इस बातपर प्रसन्न होते हैं कि बैंगनी रंगके 'फाक्सग्लोव' नामक औषधकी प्रथम मात्रासे ही वे मेलेरियाके पुराने रोगीकी नाड़ीकी गतिको कुछ घण्टोंके लिये वशमें कर सके, (कारण कि उसकी प्राथमिक क्रियासे नाड़ीकी बढ़ी हुई गति घट जाती है), परन्तु शीघ्र ही नाड़ीका वेग जब पुनः बढ़ जाता है, तब उसकी मात्रा बढ़ा बढ़ाकर दुहराई जाती है, किन्तु फिर नाड़ीका वेग उतना नहीं घटता और अन्ततोगत्वा उनका प्रयास पूर्णतया विफल हो जाता है। प्रतिक्रियाकी अवस्था-में नाड़ीकी गति अदम्य हो जाती है, निद्रा, क्षुधा और शक्तिका अभाव हो जाता है, तदनन्तर रोगी मर जाता है अथवा उसे उन्मादरोग हो जाता है। सारांश यह है कि यद्यपि बारंबार अनुभवद्वारा यही कटु तथ्य प्रमाणित होता है कि विपरीत उप

चारोंसे परिणाममें रोग बढ़ जाता है, अथवा दूसरी कोई अधिक भयानक व्याधि उत्पन्न हो जाती है, तथापि पुरानी प्रथाके (एलोपैथिक) चिकित्सक अपने मिथ्या सिद्धान्तके कारण उसपर ध्यान नहीं देते।

क्षणिक उपशम करनेवाली औषधकी मात्राको बढ़ा-बढ़ाकर दुहरानेसे चिर रोग कदापि नष्ट नहीं होता, वरन् उत्तरोत्तर हानि ही होती है।

६०—विपरीत उपचारोंसे तो स्वभावतः दुष्परिणामकी ही आशा की जा सकती है, परन्तु साधारण चिकित्सक ऐसा अनुमान करते हैं कि जब-जब रोगकी वृद्धि होगी, और कठिनाईका सामना होगा, तब-तब उसी (विपरीत) औषधकी उत्तरोत्तर बड़ी-बड़ी मात्राका प्रयोग करके रोगको वशमें कर लिया जायगा, किन्तु मात्रा फिर जितनी बढ़ाई जाती है उतने ही अल्प समयके लिये रोगकी उग्रता दबती है[1] और उस क्षणिक उपशम करनेवाली औषधकी मात्रा

१—रोगीका कष्ट घटानेके लिये जितने अस्थायी उपचार किये जाते हैं उन सबका परिणाम यही होता है कि अन्तमें रोगीका कष्ट बढ़ जाता है। तब उसके कष्टको पुनः घटानेके लिये वही औषध अधिक मात्रामें दी जाती है। इसी क्रमसे औषधकी मात्रा बढ़ा-बढ़ाकर दी जाती है और रोगीका कष्ट अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

फ्रांसदेशमें "ब्रासो" नामके प्रसिद्ध चिकित्सक हुए। उन्होंने पहले तो औषधोंको मिलाकर देनेकी प्रथाका घोर विरोध किया, और औषधके मिश्रणकी प्रक्रियाको व्यर्थ कहकर उसकी निन्दा की। फल यह हुआ कि फ्रांस देशमें औषध-मिश्रणकी प्रथाका अन्त ही हो गया। इसके लिये उस देशकी जनता उनकी कृतज्ञ है। लगभग २५ वर्षके पश्चात् जब कि सदृश

अतः चिकित्सकोंको इस निष्कर्षपर पहुँच जाना चाहिए था कि विपरीत-विधानका विपरीत अर्थात् सदृशविधान ही सर्वोत्तम चिकित्सा-विधान है।

६१—यदि चिकित्सकोंने विपरीत विधानात्मक औषध-प्रयोगों के दुष्परिणामोंका विचार किया होता, तो उन्हें इस महान् सत्य-का पता बहुत पहले चल गया होता कि रोगोंको निर्मूल करने-वाली वास्तविक चिकित्साकला तो विपरीत विधानसे ठीक विप-

---

कष्टको निवारण कर दे। अतएव "ब्रासो" को यह उपाय सूझ पड़ा कि यदि रोगीका रक्त निकाल कर उसे अशक्त कर दिया जावे, तो उसका कष्ट भी घट जायगा! उनकी यह धारणा थी कि रक्तके कारण ही रोगियों-को कष्ट होते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार, अनेक प्रकारसे यथा, तीव्र नुकीले शस्त्रसे छेद कर, जोंक लगाकर, अथवा कपिंगग्लास आदि लगा-कर रोगियोंका रक्त बहाया जाने लगा। रोगीके शरीरसे जितना ही अधिक रक्त निकाल दिया जाता था, उतना ही अधिक अशक्त वह हो जाता था, और उतना ही अधिक न तो बोल सकता था, न चिल्ला सकता था और न अपने कष्टको व्यक्त करनेके लिये अशान्त ही हो सकता था। इस प्रकार ज्यों-ज्यों रोगीकी शक्ति घटा दी जाती थी, त्यों-त्यों वह पहले की अपेक्षा अधिक शान्त (कष्टरहित) प्रतीत होता था। रोगीके इस दिखावटी सुधारसे पार्श्ववर्ती जन प्रसन्न हो जाते थे। यदि रोगीने पुनः अपने कष्टका किंचित् भी प्रदर्शन किया, तो उस प्रथाके अनुयायी फिर उपर्युक्त उपायोंद्वारा रोगीको अधिकाधिक शक्तिहीन करनेको उद्यत ही रहते थे। वे निःसहाय चिकित्सक यही मानते थे कि रोगीको उन्हीं उपायोंसे शान्ति मिली है तथा आगे भी उन्हींसे उसे शान्ति मिल सकती है।

इतना करनेपर भी यदि रोगीमें कुछ शक्ति बच जाती थी, तो विशेष-

रीत ही होती है; उन्हें यह निश्चय हो गया होता कि विपरीत विधानात्मक औषधकी क्रियाका परिणाम तो केवल क्षणिक उपशम ही होता है, और अस्थायी उपशमकी समाप्ति होते ही रोग अवश्य बढ़ जाता है। अतएव विपरीत विधानसे ठीक विपरीत विधानद्वारा अर्थात् सदृश विधानद्वारा ही रोगोंका समूल और स्थायी नाश हो सकता है। विपरीत विधानकी बड़ी-बड़ी मात्राओं के विपरीत ही सदृश विधानमें औषधकी मात्राएँ भी अत्यल्प होती हैं।

कर लम्बी अवधिके रोगियोंको उपवास कराया जाता था। इस प्रकार रोगीकी रही-सही शक्ति भी चली जाती थी और चिकित्सकको उसे शान्त करनेमें सफलता मिल जाती थी। रोगीकी अशक्तता इतनी बढ़ जाती थी कि वह इन दुष्ट उपचारोंके प्रति अपनी अँगुली भी उठानेमें असमर्थ हो जाता था। शक्तिक्षयकारक उपचारोंके बारम्बार दुहराए जानेसे रोगीको अपनी जैवशक्तिके क्षय हो जानेका भी अनुभव नहीं हो पाता था। अतएव रोगीके अन्तिम मृत्युकष्टको भी घटानेके लिये बचे खुचे रक्तको निकलवा देनेका एवं उसे तप्त जलसे स्नान कराने आदि उपायोंका अवलंबन किया जाता था। इसी बीचमें जब रोगी चुपचाप मर जाता था तो वे आश्चर्य प्रगट किया करते थे।

उस समय रोगीके कुटुम्बी जन कुछ इस प्रकार सोचकर अपने चित्तको सान्त्वना देते थे कि भगवान जानते हैं रोगीको किसी प्रकारका कष्ट नहीं दिया गया, प्रत्युत उसके कष्टोंको कम करनेके लिये सब उपाय किए गये, परन्तु रोगीको बचाया न जा सका। इससे निश्चय है कि रोग आरम्भसे ही मारक और असाध्य था।

यूरोपमें तथा संसारभरमें यह विधान शनै शनैः फैल गया और सब प्रकारके रोगोंकी *चिकित्साके लिये सर्वोत्तम माना जाने लगा, कारण कि*

विपरीत चिकित्सासे निश्चय ही रोग बढ जाते हैं। विपरीत उपचारोंद्वारा अबतक किसी दीर्घ कालीन रोगका नाश नहीं हो सका। (यदि दैवसंयोगसे कभी कोई सदृशविधानात्मक औषध किसी विपरीत उपचारमे सम्मिलित हो गई तो बात दूसरी है)। प्रकृतिने भी जब कभी रोगोंका शीघ्र और समूल नाश किया, तो वर्तमान रोगके सदृश नया रोग उत्पन्न करके ही किया। आश्चर्य है कि इन तथ्योंको देखते हुए भी इतनी शताब्दियों तक एलोपैथिक चिकित्सकोंने सदृशविधानात्मक सत्य

इस विधानके अनुसार चिकित्सकको सोचने-विचारनेका श्रम ही नहीं करना पड़ता था। (सोचना विचारना ही संसारमें सबसे बड़ा परिश्रम है)। किन्तु इस विधानद्वारा चिकित्सा करनेमें किस सहृदय एवं विवेकशील चिकित्सककी अन्तरात्मा धिक्कार न देती रही होगी। इन धिक्कारोंके प्रतिशोधमें उनका एकमात्र यही सहारा था कि विधानके आविष्कर्ता तो वे नहीं हैं। 'ब्रासेने' सहस्रों अनुयायियोंने यही किया, और अपने गुरुके उपदेशानुसार इस विचारसे आत्मसन्तोष किया कि मरजाने पर रोगीके कष्टोंका अन्त हो जायगा। नैपोलियनके महायुद्धोंमें भी इतना अधिक नरसंहार न हुआ होगा जितना कि ब्रासेके सहस्रों कुपथगामी अनुयायियोंने, उनकी शिक्षाके अनुसार, असख्य निरपराध रोगियोंका रक्त बहा-बहाकर किया!!

कदाचित् यह सब श्रीभगवानकी प्रेरणा ही थी कि ऐसे अन्धकारपूर्ण युगके अन्तमें सदृश विधानात्मक विज्ञानके सूर्यका उदय हो। सदृश विधान अत्यन्त क्लिष्ट चिकित्साकला है। चिकित्सकोंको विशुद्ध और सहृदय होनेके अतिरिक्त रोगोंके व्यक्तिगत पार्थक्यको निश्चय करनेमें अथक परिश्रमशील होना चाहिए। तब ही सदृशविधानद्वारा सब साध्य रोगोंका नाश हो सकता है, और रोगीको स्वास्थ्य एवं नवजीवन प्राप्त हो सकता है।

सिद्धान्तकी शिक्षा नहीं ग्रहण की, जिसके ज्ञानसे ही रोगीका हित-साधन हो सकता है।

विपरीत विधान के दुष्परिणामोंका तथा सदृश विधानके सुपरिणामोंका कारण।

६२—अब आगे कतिपय ऐसे तथ्योंका वर्णन किया गया है जो कई बार अवलोकन करके सुनिश्चित कर लिए गए हैं। उन तथ्योंसे विपरीत विधानके दुष्परिणामोंका कारण तथा सदृश विधानके सुपरिणामोंका आधार स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि वे तथ्य अत्यन्त प्रत्यक्ष और प्रकट हैं तथा रोगनाश करनेके लिये नितान्त आवश्यक हैं, तथापि मुझसे पहले किसीने उनपर ध्यान नहीं दिया।

औषधकी प्राथमिक क्रिया तथा जैव शक्तिकी प्रतिक्रिया में पार्थक्य।

६३—जैव शक्तिको प्रभावित करनेवाले प्रत्येक कारण, प्रत्येक औषधशक्ति, जैव शक्तिमें किंचित् अथवा अधिक दुर्व्यवस्था उत्पन्न कर देती है और कुछ अथवा बहुत समयके लिये मानव स्वास्थ्यको परिवर्तित कर देती है। इसीको औषधकी प्राथमिक क्रिया कहते हैं। यद्यपि यह औषध-शक्ति एवं जैव शक्ति दोनोंका सम्मिलित परिणाम होता है, तथापि प्रधानतः औषध-शक्ति ही कारण है। औषध-शक्तिकी इस क्रियाके विरोधमें जैव शक्ति स्वयं क्रियाशील हो जाती है। हमारी जैव शक्तिकी यह विरोधात्मक क्रिया हमारे जीवनकी रक्षा करनेवाली जैव शक्तिका स्वाभाविक गुण है और अपने आप हुआ करती है। इसीको गौण क्रिया अथवा प्रतिक्रिया कहते हैं।

प्राथमिक क्रियाका तथा प्रतिक्रियाका स्पष्टीकरण।

६४—जब हमारे स्वस्थ शरीरपर कृत्रिम रोगजनक शक्तियों की (औषधोंकी) क्रिया होती है तब, जैसा आगे वर्णित उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जायगा, हमारी जैव शक्ति निष्क्रिय सी बनी रहती है, विवश भी होकर बाहरी शक्तिकी क्रियाको होने देती है, और उससे अपनी स्वस्थ दशाको परिवर्तित हो जाने देती है। (यही औषध-शक्तिकी प्राथमिक क्रिया है)।

तत्पश्चात् जैवशक्ति मानो पुन जाग्रत होकर क्रियाशील हो जाती है, और—

(क) औषध शक्तिकी प्राथमिक क्रियाद्वारा स्वास्थ्यकी दशामें जो परिवर्तन हुआ है सभवत उस परिवर्तनसे ठीक विपरीत परिवर्तन स्वास्थ्यमें उत्पन्न करती है। प्राथमिक क्रियासे जितना उग्र और व्यापक परिवर्तन होता है, उतना ही उग्र और व्यापक विपरीत परिवर्तन भी होता है। जैव शक्ति जितनी अधिक बलवती होती है, विपरीत परिवर्तन भी उतना ही बलपूर्वक होता है। यह है गौण क्रिया अथवा प्रतिक्रिया।

परन्तु, यदि प्राथमिक क्रियाजन्य परिवर्तनके विपरीत (स्वास्थ्यकी) कोई दशा प्रकृतिमें सभव नहीं होती, तो—

(ख) जैव शक्ति निरपेक्ष हो जानेका प्रयत्न करती है, अर्थात् अपनी प्रबल शक्तिद्वारा औषधकृत स्वास्थ्यके परिवर्तनको विनष्ट कर देती है और उसके स्थानमें निज स्वस्थ दशाको पुन प्रतिष्ठित कर देती है। यह भी गौण क्रिया है—प्रतिक्रिया है—और रोगनाशक प्रतिक्रिया है।

प्राथमिक और गौण क्रियाओंके उदाहरण।

६५—(१) यदि एक हाथको तप्त जलमें बोर दिया जावे,तो वह दूसरे हाथकी अपेक्षा अधिक उत्तप्त हो जायगा–प्राथमिक क्रिया, यदि हाथको तप्त जलमें से निकाल लिया जावे और भली भाँति सुखा दिया जावे,तो कुछ ही समयके पश्चात् वह दूसरे हाथकी अपेक्षा अधिक शीतल हो जायगा–गौण क्रिया।

(२) कठिन शारीरिक परिश्रम करनेपर मनुष्यका शरीर उत्तप्त हो जाता है–प्राथमिक क्रिया। कुछ समयके पश्चात् उसे शीतका बोध होने लगता है और वह काँपने लगता है– गौणक्रिया।

(३) अधिक मदिरापान करनेसे मनुष्य उत्तप्त हो जाता है—प्राथमिक क्रिया। दूसरे दिन उसे शीतका इतना बोध होता है कि श्वासद्वारा भीतर जानेवाली वायु भी शीतल प्रतीत होती है—गौण क्रिया।

(४) यदि एक हाथ बहुत समय पर्यन्त शीतल जलमें डूबा रहे, तो वह दूसरे हाथकी अपेक्षा अधिक शीतल और पीलासा हो जाता है—प्राथमिक क्रिया। परन्तु शीतल जलसे हटाकर सुखा देनेपर वही हाथ दूसरे हाथकी अपेक्षा न केवल अधिक उत्तप्त हो जाता है किन्तु आरक्त और प्रदाहित भी हो जाता है—गौण क्रिया, जैव शक्तिकी प्रतिक्रिया।

(५) कड़ी काफी पीनेसे मनुष्य अत्यन्त प्रफुल्लित हो जाता है—प्राथमिक क्रिया। तत्पश्चात् बहुत समय तक वह आलसी एव तन्द्रालु हो जाता है—गौण क्रिया, प्रतिक्रिया। यदि उसे पुन. कड़ी काफी पिला दी जाय, तो फिर उसका आलस्य कुछ समयके लिये दूर हो जायगा—अस्थायी उपकार।

(६) अफीम खानेसे पहली रात तो गहरी और अचेत निद्रा

आती है—प्राथमिक क्रिया। परन्तु दूसरी रातसे ही उतनी ही अधिक अनिद्रा बढ जाती है—प्रतिक्रिया।

(७) अफीम खानेसे मलावरोध होता है—प्राथमिक क्रिया। परन्तु पश्चात् उदरामय हो जाता है—प्रतिक्रिया।

(८) रेचक औषधसे आँतें उत्तेजित हो जाती हैं और उदरामय हो जाता है—प्राथमिक क्रिया। परन्तु पश्चात् दीर्घ काल तक मलावरोध हो जाता है—प्रतिक्रिया।

इसी प्रकार जिन औषधोंकी बडी मात्रासे स्वस्थ मनुष्यके स्वास्थ्यमें बृहत् परिवर्त्तन हो सकते हैं उनकी प्राथमिक क्रियाके पश्चात्, प्रतिक्रिया होनेपर, प्राथमिक क्रियाजन्य परिवर्तित दशाकी ठीक विपरीत दशा—यदि प्रकृतिमें ऐसी दशा सम्भव है तो—अवश्य उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्साके लिये प्रयोग की गई सदृश विधानात्मक औषधकी अल्पाल्प मात्रासे जैव शक्तिकी जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है वह स्वास्थ्यको सुव्यवस्थित करनेमें ही दृष्टिगोचर होती है।

६६—यह सरलतापूर्वक समझमें आ सकता है कि दुर्व्यवस्थाजनक शक्तियोंकी (औषधोंकी) सदृश विधानात्मक अल्पाल्प मात्राओंसे स्वस्थ शरीरमें कोई प्रत्यक्ष विपरीत प्रतिक्रिया होती हुई दृष्टिमें क्यों नहीं आती। प्रत्येक सदृश विधानात्मक औषधकी अल्पाल्प मात्रा अपनी प्राथमिक क्रिया तो अवश्य करती है जिसे अति सावधान निरीक्षक ही अनुभव कर सकते हैं। परन्तु ऐसी प्राथमिक क्रियाके विरोधमें जीवित शरीरयन्त्रको केवल उतनी

ही प्रतिक्रिया (गौण क्रिया) करनी पड़ती है जितनी कि स्वास्थ्य-को पुनः सुव्यवस्थित करनेके लिये आवश्यक होती है।

इन तथ्योंसे विपरीत (अस्थायी) विधानकी अहितकारिता तथा सदृश विधानकी हितकारिता स्पष्ट हो जाती है।

६७—प्रकृतिके क्रममें तथा परीक्षात्मक प्रयोगोंमें इन निर्विवाद तथ्योंका प्रत्यक्षीकरण स्वयमेव हो जाता है। उनके द्वारा सदृश विधानात्मक चिकित्साकी हितकारिता समझमें आ जाती है ; और विपरीत क्रियात्मक औषधोंद्वारा की[1] जाने वाली विपरीत एवं अस्थायी चिकित्साके दोष भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

१—कभी-कभी ऐसी परिस्थितियोंका सामना हो जाता है कि सदृश विधानात्मक औषधकी क्रियाके लिये समय ही नहीं रहता। घण्टे आध घण्टेकी तो बात ही क्या मिनटोंका भी समय नहीं रहता। यदि किसी आकस्मिक आघातसे प्राण-सङ्कट उपस्थित हो गया हो, विद्युत्-प्रवाहके स्पर्शसे, अथवा रक्तके जम जानेसे अथवा जलमें डूब जाने आदिसे श्वास-प्रश्वास सहसा रुक गया हो, अथवा प्राणकी गति स्थगित हो गई हो, तो उस समय विपरीत अस्थायी उपचारसे, यथा—सेंकनेसे, तीव्र गन्ध सुँघाने-से, अत्यन्त कड़ी काफी पिलाकर, अथवा विद्युत्-शक्ति आदिसे शारी-रिक अनुभूतिको जाग्रत करनेके लिये प्राथमिक उपचार करना सर्वदा समु-चित है। ऐसे प्रारंभिक उपचारसे जैवशक्ति उत्तेजित हो जाती है और पुनः अपनी स्वाभाविक क्रिया करने लगती है। ऐसी परिस्थितियोंमें कोई रोग तो* होता नहीं, वरन् स्वस्थ जैव शक्तिकी गति अकस्मात् रुक जाती है,

---

*इस उक्तिका आश्रय लेकर एक नया मत प्रचलित हो रहा है जिसके अनुसार सदृश और विपरीत उपचारको मिलाकर चिकित्सा करनेका प्रोत्साहन किया जाता है, तथा उपर्युक्त अपवादको साधारण सिद्धान्त मान-

सदृशविधानात्मक चिकित्साकी सफलता भी इन तथ्योंसे सिद्ध हो जाती है।

६८—सदृश विधानात्मक चिकित्साद्वारा सपादित रोगमुक्तियोंका अनुभव हमे यह बतलाता है कि लक्षणसादृश्यके कारण

और उसक गतिरोधको दूर कर देना ही आवश्यक होता है। इसी प्रकार विपरानस भी जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तब विघ्नाशक पदार्थों का प्रयोगात्मक विपरीत उपचार वाञ्छनीय है।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह नहीं होता कि सुनिर्वाचित सदृश विधानात्मक औषधके कतिपय साधारण अमुख्य लक्षण यदि किसी साधारण रोगलक्षणके विपरीत हों तो उस रोगके लिये वह समुचित सदृश विधानात्मक औषध नहीं हो सकती। यदि रोगके प्रधान, मुख्य एवं विचित्र लक्षण औषधके प्रधान, मुख्य और विचित्र लक्षणोंके सदृश हैं, अर्थात् यदि सदृश होनेके कारण औषध उन लक्षणोंको नष्ट करनेमें समर्थ है, तो औषधकी क्रियाका अन्त होते-होते वे कतिपय विपरीत लक्षण भी स्वय नष्ट हो जाते हैं और रोगनाश होनेमें वे किसी प्रकारकी बाधा नहीं कर सकते।

कर सर्वत्र लागू किया जाता है। ऐसी पद्धतिके प्रचारक सदृश विधानके साथ, एलोपैथीके विपरीत विधानको, एव अस्थाई विधानको तथा अन्य चुटकुलोंको भी सम्मिलित करना चाहते हैं। इस प्रथाका मुख्य उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि सदृश विधानके अनुसार परम उपयुक्त औषधका चुनाव करनेमें जो परिश्रम करना पड़ता है उससे वे बच जायेंगे, और सदृशविधानात्मक चिकित्सक हुए बिना ही सदृशविधानात्मक चिकित्सक होनेकी ख्याति प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु खेद है कि जिस विधानका वे अनुसरण करते हैं उसी विधानके अनुरूप ही उनकी चिकित्सा हो सकती है। वास्तवमें तो वे उभयभ्रष्ट हैं।

इसविधानमें औषधकी असाधारणतया अल्प मात्राका ही प्रयोग आवश्यक होता है, और वह मदृश प्राकृतिक रोगको वशमें करने- के ही लिये एवं जैवशक्तिके अनुभवक्षेत्रमें हटा देने के ही लिये पर्याप्त होती है। रोगका नाश हो जानेपर, शरीरयन्त्रमें औषध-जन्य विकारका, प्रथम तो, किंचित् अंश ही शेष रह जाता है, दूसरे, मात्राकी असाधारण अल्पताके कारण, वह इतना क्षणिक, इतना नगण्य होता है, तथा इतनी शीघ्रतासे स्वयमेव नष्ट हो जाता है, कि स्वास्थ्यकी इस अल्प कृत्रिम दुर्व्यवस्थाके विरोधमें जैव शक्तिको केवल इतनी ही प्रतिक्रिया नाममात्रके लिये करनी पड़ती है, जितनेसे जैवशक्ति स्वास्थ्यकी वर्तमान दुर्दशासे अपनी स्वस्थ दशामें आजावे, अर्थात् उसे पूर्ण स्वास्थ्यका लाभ हो जावे; और इसके लिये तो उसे, रोगरूप दुर्व्यवस्थाकी समाप्ति हो जानेपर, वास्तवमें कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

विपरीत विधानकी हानिकारकता भी इन तथ्योंसे प्रमाणित हो जाती है।

६६—विपरीत (अस्थायी) चिकित्सामें इसका ठीक उलटा ही होताहै। इस विधानके अनुसार रोगलक्षणके विरुद्ध जिस औषध-लक्षणका प्रयोग किया जाता है (यथा आशुपीड़ाके विरुद्ध अफीमकी प्राथमिक क्रियाजन्य अनुभवशून्यता और जड़ताका), वह औषध-लक्षण रोगलक्षणका पूर्णतया विजातीय नहीं होता, अर्थात् एलो-पैथिक औषधके समान पूर्णतया सम्बन्धरहित नहीं होता। दोनों-में प्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य होता है, परन्तु जैसा संबन्ध होना चाहिए उससे ठीक उलटा संबन्ध इनमें होता है। इस विधानके अनुसार कुछ ऐसा विचार किया जाता है कि विपरीत औषध-

लक्षणसे रोग-लक्षणका नाश अवश्य हो जायगा, परन्तु वास्तवमें यह असम्भव है। निःसन्देह विपरीत विधानके अनुसार चुनी गई औषध शरीरयन्त्रके ठीक उन्हीं रुग्ण भागोंपर क्रिया करती है जिनपर सदृशविधानात्मक औषध, जो इस आधारपर चुनी जाती है कि वह सदृश व्याधि उत्पन्न कर सकती है। परन्तु विपरीत विधानकी औषध विपरीत रोगलक्षणको विरोधीके समान कुछ छिपा-सी देती है, और कुछ समयके लिये जैवशक्तिको उसका अनुभव नहीं होने देती। फल यह होता है कि विपरीत अस्थायी (उपकार करनेवाली) औषधकी क्रियाके आरम्भिक कालमें, जैव-शक्तिको दोनोंका (अर्थात् रोगलक्षण तथा औषध लक्षण दोनों-का) कष्ट प्रतीत नहीं होता। कारण कि दोनों एक दूसरेको मानो हटा देते हैं और शक्तिहीन करके निष्क्रिय-सा बना देते हैं (यथा अफीमकी मात्राजन्य अनुभव-शून्यताद्वारा प्रारम्भमें कुछ काल तक आशु पीडाकी अनुभूति)।

पहले कुछ मिनटों तक जैव शक्तिको सुखकर अवस्थाका अनु-भव होता है, न तो उसे अफीमकी अनुभव शून्यताका बोध होता है और न व्याधिके ही कष्टका। परन्तु विपरीत औषधजन्य लक्षण, जैव शक्तिकी अनुभूति क्षेत्रमें, शरीरयन्त्रकी वर्तमान दुर्व्यवस्थाका स्थान उसी प्रकार नहीं ग्रहण कर सकता है, जिस प्रकार सदृश-विधानात्मक चिकित्सामें बलवान सदृश कृत्रिम विकार कर लेता है। अतएव विपरीत औषध जैव शक्तिको इस प्रकार प्रभावित नहीं कर सकती जिस प्रकार सदृश कृत्रिम रोग उत्पन्न करके सदृश विधानात्मक औषध कर देती है।

सदृश औषध रोगके सदृश कृत्रिम विकारको उत्पन्न करती है। यह सदृश कृत्रिम विकार मूल रोगका स्थान ग्रहण कर लेता है। फलतः जैव शक्तिको मूल रोगका अनुभव नहीं होता, केवल

कृत्रिम विकारका ही अनुभव होता है। विपरीत औषध ऐसा नहीं कर सकती। बलवान सदृश कृत्रिम रोग जिस प्रकार शरीरयन्त्र-में विद्यमान प्राकृतिक रोगका स्थान ग्रहण कर लेता है, विपरीत औषध जन्य लक्षण उस प्रकार नहीं कर सकता, और न जैव शक्तिके अनुभव क्षेत्रमें ही आ सकता है। सदृश विधानात्मक औषध जैव शक्तिको सदृश कृत्रिम रोगद्वारा इस प्रकार प्रभावित करती है कि प्राकृतिक रोगके स्थानमें कृत्रिम रोग ही रह जाता है। विपरीत विधानकी औषधसे यह सम्भव नहीं हो सकता। रोग-जन्य दुर्व्यवस्थासे विपरीत और भिन्न होनेके कारण, विपरीत अस्थायी औषधशक्ति उसको (रोगजन्य दुर्व्यवस्थाको) नष्ट नहीं कर सकती। जैसा पहले बतलाया गया है औषधजन्य विपरीत लक्षणकी शक्ति रोगजन्य दुर्व्यवस्थाको केवल कुछ समयके लिये निष्क्रिय सी[1] कर देती है। कुछ समय तक जैव शक्तिको रोग-

---

१—शरीरयन्त्रमें विपरीत अनुभूतियाँ एक-दूसरेको सर्वदाके लिये निष्क्रिय नहीं कर सकतीं। भौतिक पदार्थोंकी प्रयोगशालामें विपरीत पदार्थ एक दूसरेको निष्क्रिय बना देते हैं, अथवा दोनोंके मेलसे भिन्न नया पदार्थ बन जाता है; जैसे सल्फ्यूरिक एसिड (गन्धकका तेजाब) और पोटाश (क्षार) मिलकर एक तीसरा पदार्थ बन जाता है जो न तो खट्टा रहता है और न खारा होता है। तापसे भी उस नये पदार्थमें विघटन नहीं होती। शरीरयन्त्ररूपी प्रयोगशालामें अनुभूतिरूपी पदार्थोंका इस प्रकार मिश्रण और सम्मिश्रण नहीं होता। उनके मेलसे कोई नयी निष्क्रिय अनुभूति भी नहीं उत्पन्न होती। जब विरोधी (विपरीत) अनुभूतियोंका संयोग होता है तब दोनों एक-दूसरेको कुछ कालके लिये निष्क्रिय सी कर देती हैं, परन्तु उनमेंसे कोई किसीको पूर्णतया अथवा सर्वदाके लिये नष्ट नहीं कर सकती। शोकाकुल मनुष्यकी अश्रुधाराको प्रहसन कुछ कालके

जन्य दुरवस्थाका अनुभव नहीं होता। परन्तु जैसे औषधजन्य सभी कृत्रिम विकार शीघ्र ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं वैसे ही विपरीत औषधजन्य लक्षण भी शीघ्र स्वयमेव नष्ट हो जाता है। परिणाम यह होता है कि रोग तो ज्योंका त्यों बना ही रहता है, उसके अतिरिक्त जैव शक्ति प्रतिक्रिया करनेको भी बाध्य हो जाती है। विपरीत विधानके अनुसार तथाकथित रोगमुक्तिके हेतु बार बार एवं मात्रा बढ़ा बढ़ाकर औषध देनी पड़ती है। अतएव जैव शक्तिकी प्रतिक्रियासे मूल रोग बढ़ता ही जाता है। कारण स्पष्ट है। विपरीत औषधके पश्चात् जो प्रतिक्रिया होती है वह औषधजन्य दशासे विपरीत दशा को उत्पन्न करती है, जिससे मूल रोग बढ़ जाता है। जैव शक्तिकी प्रतिक्रिया औषध क्रियाके प्रतिकूल होती

लिए ही सुला सकता है। इसीकी बात कुछ समयके ही पश्चात् भूल जाती है और अश्रुधारा पहलेसे अधिक वेगवती हो जाती है।

१—स्पष्ट होने हुए भी यह कथन कुछ लोगोंकी समझमें नहीं आता। इसके विरोधमें वे यह तर्क करते हैं कि अस्थायी औषधकी प्रतिक्रिया मूल रोगके सदृश नया रोग उत्पन्न कर देती है, अतएव मूल रोगको नष्ट करनेके लिये प्रतिक्रियाजन्य सदृश रोग उसी प्रकार पर्याप्त हो जाता

है। औषध क्रिया रोगके प्रतिकूल (विपरीत) होती है। अत एव मूल रोग बढ जाता है। विपरीत औषधसे इस प्रकार रोग तो नष्ट होता नहीं, प्रत्युत प्रतिक्रियाद्वारा उसमें वैसी ही दुर्व्यवस्था और बढ़ जाती है। अस्थायी उपचारके विरुद्ध जिस प्रतिक्रियाको करनेके लिये जैव शक्ति बाध्य होती है उससे मूल रोगका वही लक्षण तो बढ़ता है जिसे नष्ट करनेके लिये विपरीत औषधका प्रयोग किया जाता है। अस्थायी औषधकी क्रिया समाप्त होते ही रोगलक्षण इस प्रकार और बढ़ जाता है। अस्थायी औषधकी मात्रा भी जितनी अधिक होती है रोगलक्षण उतना ही अधिक बढता है। अफीमका ही उदाहरण ले लीजिए। पीड़ा घटानेके लिये जितनी अधिक मात्रामें अफीम दी जाती है, अफीमकी प्राथमिक क्रिया समाप्त होते ही, पीड़ा उतनी ही अधिक बढ़ जाती है[१]।

सदृश विधानका सारांश।

७०—यहाँ तक जो बतलाया गया उससे ये ही निष्कर्ष निकलते हैं कि—

(१) रोगीका क्लेश तथा उसके स्वास्थ्यका गोचर परिवर्तन

१—यह विषय एक उदाहरणद्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्तिको कारागारकी अंधकारपूर्ण काल कोठरीमें बन्द कर दिया जावे, तो उसे वहाँ अपने पासकी भी कोई वस्तु दृष्टिगोचर न होगी। अपने चारों ओर वह अंधकार ही अंधकार देखेगा। उस अवस्थामें यदि वहाँ सहसा दीपकका प्रकाश कर दिया जावे, तो उसे उस कोठरीकी सब वस्तुएँ स्पष्ट प्रतीत होने लगेंगी। अब यदि दीपक बुझा दिया जावे, तो उस दुखियाको पहलेसे भी अधिक अंधकार प्रतीत होगा। जितना अधिक प्रकाशवान दीपक होगा उतना ही अधिक अंधकार, उसे दीपक बुझने पर, प्रतीत होगा।

ही रोग है। चिकित्सक रोगोंमें यही पा सकते हैं। रोगमुक्तिके लिये इसीको नष्ट कर देना आवश्यक है। इसे एक शब्दमें "लक्षण-समुच्चय" कह सकते हैं। इसीके द्वारा रोग अपने उपशमके लिये आवश्यक औषधकी माँग करता है। रोगोंमें किसी आन्तरिक कारणकी कल्पना करना, किसी अदृश्य विशेषत्वकी कल्पना करना, अथवा किसी भौतिक रोग-जनक तत्त्वकी कल्पना करना स्वप्नवत् व्यर्थ है।

(२) स्वास्थ्यकी दुर्व्यवस्थित दशा ही रोग कहलाती है। दुर्व्यवस्थित स्वास्थ्यमें औषधद्वारा पुनः दुर्व्यवस्था उत्पन्न करके ही रोगका नाश किया जा सकता है,अर्थात् दुर्व्यवस्थित स्वास्थ्यको व्यवस्थित किया जा सकता है। अत एव, मानव स्वास्थ्यकी दशामें परिवर्तन करनेकी सामर्थ्यको, अर्थात् रोगलक्षणोंको उत्पन्न करनेकी विशेष सामर्थ्यको, औषधकी रोगनाशक शक्ति कहते हैं। स्वस्थ शरीरयन्त्रपर परीक्षात्मक प्रयोग करके ही औषधकी रोगनाशक शक्तिका सच्चा और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(३) अनुभव सिद्ध करता है कि स्वस्थ शरीरमें असदृश रुग्ण दशा उत्पन्न करनेवाली औषधसे किसी प्राकृतिक रोगका कभी नाश नहीं किया जा सकता, रोग लक्षणोंसे भिन्न, असदृश लक्षणोंको उत्पन्न करनेवाली औषध रोगका नाश नहीं कर सकती। अत एव असदृश (एलोपैथिक) विधानकी चिकित्सासे रोग कभी नष्ट नहीं होता। किसी असदृश रोगसे—चाहे वह कितना भी बलशाली क्यों न हो—स्वयं प्रकृति भी किसी रोगको कभी नष्ट नहीं कर सकती।

(४) अनुभव प्रमाणित करता है कि उस औषधसे किसी चिरकालीन व्याधिका नाश नहीं हो सकता, जो स्वस्थ व्यक्तिमें रोगलक्षणसे विपरीत कृत्रिम रोगलक्षणको उत्पन्न कर सकती

है। उससे केवल क्षणिक उपशम हो सकता है, परन्तु उपशमके पश्चात् सदा रोगकी वृद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि दीर्घ कालीन रोगोंको नष्ट करनेमें क्षणिक उपशम करनेवाली विपरीत विधानकी चिकित्सा निश्चय निष्फल होती है।

(५) अत एव, रोगनाशका तीसरा और एकमात्र संभव विधान सदृश विधान है। सदृश विधानके अनुसार, प्राकृतिक रोगके लक्षण-समुच्चयको नष्ट करनेके लिये वही औषध उपयुक्त मात्रामें दी जाती है जो स्वस्थ व्यक्तिमें रोग-लक्षणोंके अत्यन्त सदृश लक्षणोंको उत्पन्न कर सकती है। यही एकमात्र सफल चिकित्सा-विधान है। इसके द्वारा रोग वशमें हो जाता है, सरलतापूर्वक पूर्णतया, और स्थायीरूपसे नष्ट हो जाता है; उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता। जैव शक्तिकी उत्तेजनाविशेष ही तो रोग है। यह उत्तेजना शक्तिमय होती है और जैव शक्तिको दुर्व्यवस्थित कर देती है। सदृश विधानात्मक औषधसे जैव शक्तिमें रोगके सदृश दुर्व्यवस्थाकारक—किन्तु अधिक बलशाली—उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। इसी लिये मूल रोग नष्ट हो जाता है। स्वच्छन्द प्राकृतिक विधानोंसे सदृश-विधान ही पुष्ट होता है। प्रकृतिके क्रममें भी सदृश लक्षणयुक्त नये रोगसे ही पुराना सदृश रोग शीघ्र और सर्वदाके लिये नष्ट होता है।

रोगनाश करनेके लिये तीन आवश्यक साधन हैं, यथा—(१) रोगका अनुसंधान; (२) औषध-परिणामोंका अनुसंधान और (३) औषधोंका समुचित प्रयोग।

७१—अब इसमें कोई संशय नहीं रह गया कि परिवर्त लक्षणसमूहोंके अतिरिक्त मानवजातिके रोगोंमें अन्य कुछ नहीं रहता,

तथा औषधनामक पदार्थोंसे उनका नाश किया जा सकता है, और उनसे उत्पन्न हुई स्वास्थ्यकी दुर्व्यवस्थाको सुव्यवस्थामें परिणत किया जा सकता है। प्रत्येक वास्तविक रोगमुक्ति इसी प्रकार होती है। परन्तु यह उन्हीं औषधोंसे सभव होता है जो सदृश कृत्रिम रोगलक्षणोंको उत्पन्न कर सकती हैं। इसलिये चिकित्सा-कार्यके नीचे लिखे तीन अङ्ग होते हैं।

(१) रोगनाश करनेके निमित्त जिन बातोंकी जानकारी हो जाना आवश्यक है उनका ज्ञान चिकित्सकको किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए? (सूत्र ७२ से सूत्र १०४ पर्यन्त इस विषयका विवेचन किया गया है)।

(२) प्राकृतिक रोगोंका नाश करनेके लिये उपयुक्त साधनोंका (औषधोंकी रोगनाशक शक्तियोंका) ज्ञान चिकित्सकोंको कैसे हो सकता है? (इसका वर्णन सूत्र १०५ से सूत्र १४५ पर्यन्त किया गया है)।

(३) प्राकृतिक रोगोंका नाश करनेके लिये कृत्रिम रोगजनक साधनोंके (औषधोंके) प्रयोगकी समुचित विधि क्या है? (इसका वर्णन सूत्र १४ से २८५ तक किया गया है)।

चिकित्साका प्रथम अङ्ग

रोगानुसन्धान

(सूत्र ७२ से सूत्र १०४ पर्यन्त)

रोगोंके प्रधान भेद ।

७२—रोगानुसंधानके संबन्धमें सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि मानवजातिके रोग दो प्रकारके होते हैं, यथा— आशु रोग, और चिर रोग। आशु रोग जैव शक्तिको सहसा दुर्व्यवस्थित कर देते हैं। यह दुर्व्यवस्था असाधारण होती है। यद्यपि आशुरोग तीव्र गतिसे बढ़ते हैं तथापि उनका भोगकाल अल्प और सीमित होता है। परन्तु चिर रोगोंका प्रारम्भ तो लघु और प्रायः अदृश्य होता है। अपने-अपने अनुरूप विकारों-द्वारा चिर रोग जैव शक्तिको दुर्व्यवस्थित करते हैं तथा शनैः-शनैः उसे इतना अस्वस्थ कर देते हैं कि स्वास्थ्यकी रक्षा करना ही जिसका परम कर्त्तव्य है उस स्वतंत्र जैव शक्तिके सब प्रयत्न, चिररोगके आक्रमण और बढ़ावको रोकनेमें, अधूरे, अनुपयुक्त एवं व्यर्थ हो जाते हैं, निःसहाय जैव शक्ति चिर रोगको नष्ट करनेमें असमर्थ हो जाती है, फलतः चिर रोग विजयी होकर जैव शक्तिपर अपना प्रभाव जमाता जाता है, और अन्तमें शरीर-यन्त्रको नष्ट कर डालता है। चिर रोगोंका संक्रमण चिर रोगके शक्तिमय बीजद्वारा ही होता है।

आशु रोगोंके भेद ।

७३—आशु रोग तीन प्रकारके होते हैं, यथा—

पहले वे हैं जो परिस्थितिके हानिप्रद प्रभावके कारण किसी-किसी व्यक्तिको हो जाते हैं। अधिक भोजन, अपर्याप्त भोजन मिलना, अधिक शीत लग जाना, अधिक उत्तप्त हो जाना, व्यसनोंमें शक्तिका अपव्यय करना, अत्यधिक परिश्रम करना, मानसिक भावोद्रेक आदि अथवा इसी प्रकारके अन्य कारणोंसे ऐसी आण

व्याधियाँ हो जाती है। इनके साथ कुछ ज्वर भी हो जाया करता है वास्तवमें तो ये प्रसुप्त कच्छुके ही क्षणिक उत्पात हुआ करते हैं। यदि इस प्रकारके आशु रोग विशेप उग्र न हों और यदि वे शीघ्र ही शान्त कर दिये जावें, तो कच्छु अपने-आप पुन. प्रसुप्त हो जाता है।

दूसरे वे हैं जिनका प्रकोप यत्र-तत्र हो जाया करता है। आकाशमण्डल और वायुमण्डलके प्रभावोंसे तथा अन्य हानिप्रद कारणोंसे ऐसे आशु रोग हो जाया करते हैं। जिनका स्वास्थ्य सामयिक कारणोंसे प्रभावित होने योग्य रहता है वे ही इस प्रकारके आशु रोगोंसे आक्रान्त हो जाते हैं।

तसीरे वे हैं जो किसी विशेप कारणसे एक साथ अनेक व्यक्तियोंको व्यापक रूपसे आक्रान्त करते हैं। इन्हें महामारी कहते हैं। जब इस प्रकारके रोग घनी बस्तीमें फैलते हैं, तब वे प्रायः संक्रामक हो जाते हैं। महामारीमें विशेप-विशेप प्रकारके ज्वर उत्पन्न होते हैं; प्रत्येकका लक्षणसमूह भिन्न होता है, जिन-जिनको वह होती है सबमें प्रायः एक ही प्रकारका लक्षण समूह प्रकट होता है। यदि इन रोगोंकी चिकित्सा न की जावे तो वे कुछ ही समयमें अपने-आप विनष्ट हो जाते हैं, अथवा रोगीको मार डालते हैं। युद्धोत्तर परिस्थितियाँ, बाढ़, दुर्भिक्ष आदि कारणोंसे महामारी प्राय. हो जाती है। कभी-कभी विचित्र आशु रोग बीज भी ऐसे रोगोंका कारण होता है। आशु रोग बीजोंसे सदा निश्चित प्रकारकी व्याधियाँ हुआ करती हैं। अत एव उनके नाम परंपरासे चले आते हैं। आशु रोग-बीज दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो मनुष्यको जीवनमें एक ही बार होते हैं, जैसे शीतला, छोटी शीतला, कुकुर खाँसी, लालज्वर, कर्णमूलप्रदाह आदि। दूसरे वे जो बार-

बार आक्रमण किया करते हैं, जैसे प्लेग, विषूचिका, समुद्रतटका पीला ज्वर आदि।

एलोपैथिक चिकित्सकोंकी अपटुतासे जो रोग उत्पन्न होते हैं वे अत्यन्त भीषण चिर रोग हो जाते हैं।

७४–खेद है कि असदृश चिकित्सा-पद्धतिद्वारा उत्पन्न हुए रोगोंको हमें चिररोग मानना पड़ता है। असदृश औषध अत्यन्त उग्र होती हैं। उनके दुष्परिणाम भी भयंकर ही होते हैं। असदृश औषधकी मात्राएँ बार बार और बढ़ा बढ़ाकर दी जाती हैं। उनका सेवन भी दीर्घ काल तक कराया जाता है। अनेक प्रकारके पारद और उसके प्रलेपोंका, नाइट्रेट आफ सिलवरका, आयडीनका और उसके प्रलेपोंका, अफीम, वैलेरियन और सिनकोनाकी छाल तथा क्विनाइनका, फास्फरसका, प्रूसिक एसिडका, गंधक और गंधकके तेजाबका एवं उग्र वार्षिक विरेचनोंका[1] दुरुपयोग किया जाता है; धमनीको चीरकर, विपुल रक्तस्राव कराकर, जोंक लगाकर, क्षत आदि बनाकर रोगियोंपर निर्मम अत्याचार किया जाता है। इन कारणोंसे जैव शक्तिको निर्दयतापूर्वक अत्यन्त बलहीन कर दिया जाता है। इन विनाशकारी प्रक्रियाओंसे जैव शक्तिके बलका, यदि, सर्वथा संहार नहीं हो जाता, तो वह इतनी दुरवस्थित तो निःसंदेह हो जाती है कि विरोधी घातक प्रहारोंसे आत्म-रक्षा करनेके लिये शरीरयंत्रमें विप्लव मचा देती है, और शरीरयंत्रका कोई भाग

१—वास्तविक रक्ताधिक्यका तो एक ही उदाहरण हो सकता है, यथा. मासिक रजःस्रावके कुछ दिन पूर्व स्वस्थ नारीको गर्भाशय और स्तनोंमें बिना प्रदाहके भी एक प्रकारकी पूर्णताकी अनुभूति होती है।

ज्ञानक्रिया-शून्य हो जाता है, अथवा किसी भागमें अत्यधिक अनुभूति और क्रिया होने लगती है, कोई अग संकुचित हो जाता है तो कोई अनुचित रूपसे बढ जाता है, किसी-किसी अगका पूर्ण विनाश भी हो जाता है, शरीरयन्त्रके बाहरी अथवा भीतरी भागमें दोषमय विकृति हो जाती है एवं वह अग सूखकर निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार जैव शक्ति ऐसे विनाशकारी शक्तियोंके[1] नित्य बढते हुए घातक प्रहारोंसे आत्मरक्षा करती है और शरीरयन्त्रको पूर्णतया विनष्ट होनेसे बचाती है।

[1]—रोग निवारणके लिये जितने प्रकारकी चिकित्सा-विधियोंकी कल्पना की जा सकती है उनमें असदृश-विधि सबसे अनुपयुक्त है और ब्रासोकी विधिसे* बढकर तो अधिक असदृश तथा अधिक विवेकहीन दूसरी कोई विधि नहीं हो सकती। उसके अनुसार रक्त स्राव और लंघन कराकर रोगीको अत्यन्त शक्तिहीन कर दिया जाता है। वर्षों तक ब्रासोकी विधि ससारके अधिकाश भूभागम प्रचलित रही। परन्तु उसे कोई विवेकशील चिकित्सा अथवा औषधोपचार नहीं मान सकता। रोगीको औषध तो उस विधिके अनुसार दी ही नहीं जाती। यदि रोगीको आख मूँद करके भी कोई औषध दी जाय तो सभव है वह औषध कभी सदृश औषध हो सकती है और इस प्रकार रोगीका कष्ट दूर हो सकता है, परन्तु रक्तस्राव करानेसे तो रोगीकी आयु-घटनेके सिवाय और हो ही क्या सकता है?

यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है कि समस्त रोग स्थानीय प्रदाह-युक्त होते हैं। सचा स्थानीय प्रदाह भी औषधसे शीघ्रातिशीघ्र तथा निश्चय-रूपसे दूर किया जा सकता है, और रक्तका एक बूँद भी नहीं बहाना पड़ता। यदि औषध खिलानेसे ही कुछ घंटोंमे प्रदाह और रोग दोना दूर किये जा सकते हैं, तथा एक भी बूँद रक्त बहाए बिना नष्ट किए जा सकते हैं,

* देखिये ६० वें सूत्रकी टिप्पणी।

असदृश चिकित्साद्वारा उत्पन्न हुए रोग अत्यन्त असाध्य होते हैं।

७५–असदृश चिकित्सा रोग नाश करनेमें असफल तो होती ही है, प्रत्युत उससे मानव स्वास्थ्य अत्यन्त विकृत हो जाता है। असदृश औषधोंके बार-बार सेवनसे जो चिर व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं वे अत्यन्त शोचनीय एवं अत्यन्त असाध्य होती हैं।

तो फिर प्रदाह-युक्त ज्वरको दूर करनेके लिये धमनी काटकर रोगीका सेरों रक्त बहा देना नितान्त अनुपयुक्त एवं घातक नहीं तो क्या हो सकता है। ब्रासेके विधानके अनुसार रक्त बहानेसे, रोगीकी जो महती हानि होती है, वह उसके शेष जीवनमें पूरी नहीं हो सकती। कारण यह है कि शरीर-यन्त्रमें रक्त बनानेके लिये विधाताने जिन अंगोंको बनाया है, रक्तस्राव करानेसे वे अत्यन्त अशक्त हो जाते हैं। अत एव यह संभव हो सकता है कि वे उतना रक्त पुनः बना दें, परन्तु उतने उत्तम कोटिका रक्त तो फिर नहीं बन सकता।

विचार करनेकी बात है कि कुछ घण्टे पहले जिस व्यक्तिकी नाड़ी ठीक चल रही थी, शीत-ज्वर होते ही उसके शरीरमें सहसा रक्ताधिक्य कैसे हो जायगा? यह नितान्त असंभव है, फिर भी तथाकथित रक्ता-धिक्यको घटानेके नामपर उसका रक्त बार-बार बहाया जाता है। किसी मनुष्यमें और किसी रोगीमें अत्यधिक शक्ति और रक्त नहीं होता। प्रत्युत रोगीमें शक्तिकी कमी ही होती है। अन्यथा उसकी जैव शक्ति रोगको होने ही न देती। अत एव स्वयमेव अशक्त रोगीका रक्त बहाकर उसे और अशक्त करना बुद्धिहीनता और निर्दयताका ही परिचय दे सकता है। निःसन्देह यह दुष्ट प्रक्रिया तर्कहीन, निर्दय और घातक है। इसका मूल सिद्धान्त ही निराधार एवं हास्यास्पद है।

खेदका विषय है कि किसी भी सीमा तक बढ़ जानेपर ये व्याधियाँ ऐसा रूप धारण कर लेती हैं कि उनके लिये उपयुक्त औषध स्थिर करना असम्भव हो जाता है।

यदि जैव शक्तिमें पर्याप्त बल शेष रह गया हो, तो प्रायः बहुत समय तक प्रयत्न करनेपर असदृश चिकित्साके दुष्परिणाम दूर किये जा सकते हैं; परन्तु साथ-ही-साथ मूल रोगको सदृश विधानद्वारा विनष्ट करना ही होगा।

७६—प्राकृतिक रोगोंका नाश करनेके लिये ही विधाताने सदृश विधानमें सामर्थ्य प्रदान की है। असदृश विधानकी हानिकारक औषधोंद्वारा लगातार कई वर्षों तक चिकित्सा होनेपर, मानव शरीर-यन्त्रमें आन्तरिक और बाह्य विकृतियाँ हो जाती हैं[1]।

१—यदि अन्तता गत्वा रोगी मर जाता है तो चीर फाड़कर उसके शवकी परीक्षा की जाती है। शोकाकुल कुटुम्बियोंको शवमें वर्तमान विकृतियाँ बतलाई जाती हैं और उन्हें समझाया जाता है कि वे ही रोगीकी मूल असाध्य व्याधियाँ थीं जिनके कारण वह मर गया। यह वञ्चना नहीं तो क्या हो सकता है! विकृतियाँ तो ऐसे चिकित्सकोंकी चिकित्सासे ही उत्पन्न हो जाती हैं वे न तो मूल रोग हैं न मूल रोगके परिणाम! "शरीर-रचनामें व्याधियोंके परिणाम" (पैथालाजिकल एनाटामी) पर अनेक सचित्र प्रकाशन हुए हैं। वे सबके सब वास्तवमें असदृश विधानकी कुचिकित्साके शोचनीय परिणामोंका ही चित्रण करते हैं। ग्रामोंमें अथवा नगरोंके निर्धन भागोंमें प्रायः असदृश चिकित्साद्वारा रोगी विकृत नहीं होते। वहाँ जो रोगी मरते हैं उनकी शव परीक्षा करनेका नियम नहीं है कारण कि उनके शवमें भ्रष्ट प्रक्रियाके परिणामरूप विकृतियाँ नहीं पाई जा

वास्तविक चिर रोग और उनके कारण।

७८-वास्तवमें प्राकृतिक चिर रोग वही है जो चिर रोगबीज से उत्पन्न होते हैं। यदि वास्तविक चिर रोगोंको स्वतन्त्रता पूर्वक अग्रसर होने दिया जावे, और यदि उपयुक्त औषध प्रयोगसे उन्हें रोका न जावे तो, कठोरसे कठोर मानसिक एवं शारीरिक नियमोंका पालन करनेपर भी, वे सर्वदा बढते और भीषण होते जाते हैं तथा दिन दूने रात चौगुने कष्टोंसे मनुष्यको जीवनपर्यन्त सताते रहते हैं। औषधके दुरुपयोगसे जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं (सूत्र ७४) उनके अतिरिक्त वास्तविक चिर रोगोंकी संख्या अत्यन्त अधिक है। ये ही मानव जातिके सबसे बड़े अभिशाप हैं। जैव शक्तिकी अत्यन्त बलवती सामर्थ्य, सर्वोत्तम सुसंघटित एवं अत्यन्त पुष्ट शारीरिक संपत्ति, तथा अत्यन्त सुनियन्त्रित जीवन भी चिर रोगोंको समूल नष्ट नहीं कर सकते[1]।

१—तरुण अवस्थामें शरीर उदार पर रहता है, नियमित मासिक रजस्राव होने लगता है, तथा जीवनकी परिस्थिति आत्मा, हृदय और शरीरके सर्वथा अनुकूल रहती है। उस समय चिर रोग—चाहे पैतृक हों अथवा संक्रमणसे प्राप्त हुए हों—कई वर्षों तक प्रकट नहीं होते। कुटुम्बी और मित्र ऐसे व्यक्तिको देख कर अनुमान नहीं कर सकते कि वह रोगी है। परन्तु अवस्था ढलने पर, जीवनके दुःखोंको भोगनेके अनन्तर तथा विपत्तियोंको झेलनेके पश्चात् अन्तर्निहित चिर रोग प्रकट हो जाते हैं, द्रुत गतिसे बढ़ते हैं और भीषण रूप धारण कर लेते हैं। उनकी भीषणता जैव शक्तिकी निर्बलताके अनुपातसे बढ़ती है। व्यग्रता, चिन्ता एवं काम क्रोधादि व्यसनोंसे तथा विशेषतः अनुपयुक्त औषध-सेवनसे जैव शक्तिकी शान्ति जितनी अधिक भग्न हुई हो, चिर रोगोंकी भीषणता भी उतनी ही अधिक हो जाती है।

उपदंश और प्रमेह।

७६—अब-तक उपदंश ही ऐसा चिर रोग माना जाता था जो समूल नष्ट न होनेपर मनुष्यको जीवनके अन्त-तक सताया करता है। परन्तु उपयुक्त औषधका सहयोग प्राप्त हुए बिना जैव शक्ति प्रमेहको भी नष्ट नहीं कर सकती। अब-तक प्रमेह चिर रोग नहीं माना जाता था। परन्तु निःसन्देह प्रमेह भी चिर रोग है। चिकित्सकोंकी अब-तक यही धारणा थी कि प्रमेहसे त्वचा-पर जो प्ररोह हो जाते हैं यदि उन्हें नष्ट कर दिया जाय तो प्रमेह समूल नष्ट हो जाता है। परन्तु त्वचागत प्ररोहोंको नष्ट कर देनेसे अन्य स्थायी व्याधियाँ हो जाती हैं। चिकित्सकोंने इस बातका कोई विचार नहीं किया।

चिर रोग कच्छु। उपदंश और प्रमेहसे उत्पन्न चिर

असदृश विधानकी चिकित्सा-प्रणालियोंमें कच्छु-जन्य असंख्य व्याधि-योंको स्वतन्त्र रोग मानकर उनका वर्गीकरण और वर्णन किया गया है; यथाः—स्नायविक दौर्बल्य, हिस्टीरिया, व्याधिकल्पना, उन्माद, शोको-न्माद, बुद्धिक्षय, पागलपन, मृगी, अनेक प्रकारके आक्षेप, हड्डियोंका कोमल हो जाना, अस्थि-निकृति, कपालास्थिकी वृद्धि और विकृति, अस्थि-क्षय, कैन्सर नामका भीषण अर्बुद, रक्तस्रावकारी अर्बुद, वात, अर्श, पाण्डु, श्वासप्रश्वासयन्त्रका आक्षेप, जलोदर, रजोरोध, पाकस्थली, नासिका, फुफ्फुस, मूत्राशय, गर्भाशय आदिसे रक्तस्राव, कासश्वास, फुफ्फुसका क्षत, नपुंसक और वन्ध्या हो जाना, शिरःशूल, बधिरता, मोतियाबिन्दु, दृष्टिनाश, मूत्रशर्करी, पक्षाघात, इन्द्रियोंके विकार, तथा सहस्रों प्रकारकी पीड़ा आदि।

व्याधियोंके अतिरिक्त अन्य समस्त चिर व्याधियां कच्छुमे ही उत्पन्न होती हैं ।

८०—कच्छु सबसे मुख्य चिर रोग है, तथा उपदंश और प्रमेहसे असंख्य गुना बड़ा चिर रोग है। जब उपदंश चिर रोग शरीरके भीतर अपना घर बना लेता है, तब रतिज क्षत प्रकट होता है, इसी प्रकार जब प्रमेह चिर राग आन्तरिक शरीरमे व्याप्त हो जाता है, तब गोभीके फूलके सदृश माँसप्ररोह त्वचा-पर प्रकट होता है। परन्तु जब आन्तरिक शरीरमे कच्छुका आक्रमण पूरा हो जाता है, तब वह त्वचा पर विशेष प्रकारकी खुजली-सहित फुंसियोंको उत्पन्न करता है। आरम्भमे उन फुंसियोंकी संख्या यद्यपि अधिक नहीं होती तथापि उनमे भीषण असहनीय खुजली (तथा गंध विशेष) हुआ करती है। चिर रोगोंमे कच्छु भयानक राक्षस है। शरीरके भीतर इसका व्याप्त हो जाना असंख्य व्याधियोंका कारण हो जाता है[1] ।

१—इन असंख्य चिर व्याधियोंके कारणका पता लगानेमे, इस महान् सत्यका निश्चय करनेमे तथा प्रमाणाको एकत्र करनेमे मैंने पूरे बारह वर्ष परिश्रम किया। मेरे पूर्व जो निरीक्षक हुए अथवा जो मेरे समकालीन हैं उन्हें इस तथ्यका ज्ञान नहीं हो सका। इस सहस्र शिर वाले रोग-राक्षसको तथा तज्जन्य विभिन्न रूप और आकृति वाले रोगोंको नष्ट करनेके लिये सदृश शक्ति-सम्पन्न औषधोंका भी पता मैंने साथ ही साथ लगाया। 'चिर रोग' (Chronic diseases) नामक ग्रन्थमे मैंने अपने अनुभवोंका वर्णन किया है।

इस ज्ञानके प्राप्त होनेके पहले मैं भी चिररोगको भिन्न भिन्न रोग मान कर उनकी चिकित्सा करनेका उपदेश देता था। उस समय तक जिन जिन

उपदंशजन्य तथा प्रमेहजन्य व्याधियोंके अतिरिक्त समस्त व्याधियाँ कच्छुसे उत्पन्न होती हैं।

८१—कच्छु अत्यन्त प्राचीन रोगबीज है। अबतक मानव कुलकी सैकड़ों पीढ़ियोंके कोटि-कोटि मानव शरीरयन्त्रोंमें उसका संक्रमण हो चुका है। अत एव वह अचिन्त्य प्रकारकी विचित्रताओंसे संयुक्त हो गया है, तथा मानव जातिकी असंख्य व्याधियोंके रूपमें वह प्रकट होता रहता है। अनेक प्रकारकी परिस्थितियोंमें¹

औषधोंकी परीक्षा मैंने स्वस्थ व्यक्तियोंपर की थी और उनके परिणामोंका पता लगा लिया था, उन्हीं औषधोंके द्वारा चिर रोगोंकी चिकित्सा करनेका उपदेश अपने शिष्योंको दिया करता था। अत एव लक्षणसमूहके आधारपर रोगोंका वर्गीकरण करके मेरे शिष्य चिर रोगोंकी चिकित्सा किया करते थे। रोग-पीड़ित जनताको उसी प्रकार लाभ भी होता था। उसे यह जान कर हर्ष होता था कि इस नवीन चिकित्सा प्रणालीकी औषधों से उसका कष्ट कम हो सकता है। अब तो उसके हर्षका पार ही नहीं रह गया। कारण कि कच्छुजन्य चिर रोगोंकी अत्यन्त उपयुक्त औषधोंका पता लग गया है, उनको बनाने और प्रयोग करनेकी विधि प्रस्तुत हो गई है। इस प्रकार चिर वाञ्छित उद्देश्यकी पूर्ति हो गई है। अब चिर रोगोंकी चिकित्साके लिये औषध भण्डारसे ऐसा औषध चुनी जा सकती है जिसका लक्षण समूह रोगीके लक्षण-समूहके अत्यन्त सदृश हो। कच्छु-जन्य चिर रोगोंको नष्ट करनेके लिये कच्छु-विष-नाशक औषध अत्यन्त उपयुक्त होती है। अतएव चिकित्सक उनका उपयोग करके रोग-पीड़ित जनताकी अब उत्तम सहायता कर सकते हैं, और प्रत्येक चिर रोगका समूल नाश कर सकते हैं।

१—जिन परिस्थितियोंके कारण कच्छु असंख्य चिर व्याधियोंमें परिणत हो जाता है उनके कुछ उदाहरण ये हैं, यथाः—निवासस्थानकी

कच्छुका सक्रमण एकसे दूसरे व्यक्तिमें होता रहता है। प्रत्येक व्यक्तिके शरीरयन्त्रकी शारिरिक जन्मजात प्रकृति भिन्न होती है। प्रति बार सक्रमण होनेमे कच्छुपीडित व्यक्तियोंकी विचित्र ताओंका समावेश कच्छुमें होता जाता है। इस प्रकार असख्य व्यक्तियों एव परिस्थितियोंसे बाहरी और भीतरी दोषोंका सम्मिश्रण होते होते कच्छु उन समस्त व्याधियोंका, विकाराका, विकृतियोंका, एव कष्टोंका कारण हो गया है जिनका वर्णन पुराने ग्रन्थाके[1] रोग प्रकरणोंमे असख्य स्वतन्त्र रोगोंके नामसे पाया जाता है।

जलवायु बनावट, भौगालिक स्थिति आदि, व्यक्तिगत शारीरिक एव मानसिक निराश, शिक्षा और अभ्यास, उनका अत्यन्त अभाव, उनम विलम्ब, अथवा उनकी अधिकता व्यवसायम, रहन-सहनमे,खान-पानम, व्यसनामि म, व्यवहार विधिम, शोल स्वभावादिमें उनका दुरुपयाग, इत्यादि।

१—ऐसे ग्र थाम रोगोंके अनुपयुक्त तथा भ्रामक नाम पाए जाते हैं। प्रत्येक रागसूचीम भिन्न भिन्न प्रकारकी व्याधियोंके नाम होते हैं। उनम केवल एक लक्षणका समानता हुआ करती ह। जैसे—शीतज्वर, पाण्डु, जलोदर क्षय, प्रदर अर्श, सन्यास, आक्षेप, हिस्टीरिया, व्याघभावना, शाकोन्माद, उन्माद, तालुमूल ग्रन्थि प्रदाह, पक्षाघात आदि। इन रोगाको भिन्न स्वतन्त्र रोग माना जाता है। उनके स्वभावादि स्थिर समझे जाते हैं और यह माना जाता है कि य सर्वदा एक ही रूपमें हुआ करते हैं। अत एव रोगोंके नामके अनुसार चिकित्सा क्रम निश्चित और पूर्व निर्धारित रहता है। इस प्रकार भिन्न रोगोंका नाम एक हो जानेसे चिकित्सा भी नामके अनुसार एक ही हो यह कहाँ तक समुचित हो सकता है। यदि चिकित्सा एक ही नहीं होनी हो तो रोगोंको एक नामसे व्यक्त करनेकी क्या आवश्यकता है? रोगाका नाम एक होना स्वय सिद्ध करता

चिररोग बीजोंके लिये विशेषतः कच्छुके लिये उपयुक्त औषधोंका आविष्कार हो गया है, परंतु उनमेंसे प्रत्येक रोगीके लिये उपयुक्त औषधका निर्वाचन बहुत सावधानीसे करना चाहिये ।

८२—यद्यपि चिररोगोंके मुख्य स्रोतका पता चल गया है, यद्यपि कच्छुके लिये अनेक उपयुक्त सदृश औषधोंका आविष्कार

है कि उनकी चिकित्सा भी एक ही सी होगी। डा० मिज रोद करते हैं कि "मूलतः भिन्न रोगोंको एक ही नामसे व्यक्त किया जाता है"। व्यापक रूपसे फैलनेवाले रोग जब-जब होते हैं तब-तब उनका कारण भिन्न एवं अज्ञात संक्रामक बीज होता है, अत एव वे सर्वदा एकही नहीं होते; तथापि उनको उसी नामसे पुकारा जाता है। इसके मूलमें धारणा यही रहती है कि वे जब-जब होते हैं उसी प्रकारके होते हैं; जैसे अस्पतालज्वर, कारागार-ज्वर, शिविर-ज्वर, गलितज्वर, पित्तज्वर, स्नायविकज्वर, श्लैष्मिकज्वर आदि। ये ज्वर जब जब होते हैं प्रत्येक बार भिन्न रूपमें होते हैं और वास्तवमें भिन्न ही होते हैं, पिछली बारसे संपूर्णतया भिन्न होते हैं। उनके रूप, क्रम लक्षण आदि सब मुख्य बातें पिछली बारसे भिन्न होती हैं। प्रति बार उनमें पिछली बारसे इतनी अधिक भिन्नता होती है कि उन्हें एक नामसे व्यक्त करना और उसी अशुद्ध नामके आधारपर पूर्वनिश्चित एक ही औषधसे उनकी चिकित्सा करना कभी न्याय-संगत नहीं हो सकता। सत्यवादी 'सिडनहम' ही इस तत्त्वको समझ सके थे। वे कहते हैं कि व्यापक रूपसे फैलानेवाले रोग जब पुनः फैलते हैं, तब उन्हें पहलेका व्यापक रोग नहीं समझना चाहिये तथा उनकी चिकित्सा पहलेकी निर्धारित औषधसे नहीं करना चाहिये। ऐसे रोग जब-जब फैलते हैं भिन्न प्रकारके होते हैं, जैसे पहले हुए थे वैसे ही नहीं होते।

हो गया है, और यद्यपि इससे अधिकांश रोगोंके मूल कारण-सम्बन्धी ज्ञानकी वृद्धि होकर चिकित्सा-जगतको कुछ सुविधा हो गई है, तथापि चिररोगसे (क्रन्छुसे) पीडित प्रत्येक रोगीके लक्षणोंको स्थिर करनेमें सदृश विधानके चिकित्सकोंको अब भी उतनी ही सावधानी करनी चाहिये, जितनी इस आविष्कारके पहले आवश्यक थी। कारण यह है कि प्रत्येक रोगीके लक्षणसमुच्चयका भलीभाँति निश्चय हुए बिना, रोगी चिररोगसे मुक्त नहीं किया जा सकता। हाँ यदि रोग आशु है और द्रुत गतिसे बढ रहा है, तो उसके अनुसधानमें कुछ अन्तर हो जाता है। आशु रोगके मुख्य लक्षण, उग्र होनेके कारण, स्वय प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उनपर चिकित्सकका ध्यान शीघ्रही आकृष्ट हो जाता है। अतएव आशुरोगकी मूर्तिका चित्रण करनेमें अपेक्षाकृत बहुत कम समय लगता है और पूछताछ भी थोडी ही करनी पडती है[१]। परन्तु चिररोगोंके अनुसधानमें ऐसे काम नहीं चल सकता। वे कई वर्षोंसे धीरे-धीरे बढते रहते हैं, अत एव उनके लक्षणोंका ठीक ठीक पता लगाना अपेक्षाकृत अति कठिन होता है।

इन सब बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि रोगोंके नाम व्यर्थ और भ्रामक होते हैं। सच्चे चिकित्सक रोगोंके नामको अपनी चिकित्साका आधार नहीं बनाते। वे यह भली भाँति समझते हैं कि प्रत्येक रोगीके सम्पूर्ण लक्षणोंद्वारा उसके रोगका निदान और चिकित्सा करना उनका कर्त्तव्य है। केवल रोगनामके आधारपर पूर्व निर्धारित औषधसे किसी रोगीकी चिकित्सा करना कभी उनका कर्त्तव्य नहीं हो सकता।

१ अत एव लक्षणोंके अनुसधानके निमित्त जिस पद्धतिका दिग्दर्शन आगे कराया जाता है उसका आंशिक प्रयोग ही आशुरोगोंके लक्षणोंके अनुसधानमें करना चाहिये।

रोगमूर्तिका चित्रण करनेके लिये आवश्यक सामग्री ।

८३—रोगीको व्यक्तित्वेन पृथक् करनेके लिये आवश्यकपरीक्षा-विधिका दिग्दर्शन आगे कराया जायगा। चिकित्सकोंको चाहिये कि प्रत्येक रोगीकी परीक्षामें केवल उन्हीं नियमोंका प्रयोग करें जो प्रस्तुत रोगीके सम्बन्धमें उपयुक्त हों। ऐसी परीक्षाके लिये निम्न बातोंकी परम आवश्यकता होती है वे ये हैं, यथा पक्षपात-रहित परीक्षा अविकल इन्द्रियाँ, ध्यानपूर्वक निरीक्षण, और रोगमूर्तिका यथार्थ चित्रण।

रोगके अनुसंधानकी विधि ।

८४—रोगीको प्रोत्साहित करना चाहिए कि वह अपने कष्ट का इतिहास वर्णन करे। फिर उसके पार्श्ववर्तियोंसे पूछना चाहिए कि रोगीने क्या-क्या कहा और उसने किस प्रकारका आचरण किया, तथा उन्होंने रोगीमें क्या देखा। इतना हो जाने-पर चिकित्सक अपने नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा रोगीको देख-भाल-कर निश्चय करे कि उसमें क्या परिवर्तन हो गया है, और क्या बात असाधारण है। रोगी और उसके पार्श्ववर्ती जो कुछ कहें चिकित्सक उसे उन्हींके शब्दोंमें लिख लेवे। चिकित्सक स्वयं चुप रहे तथा रोगी और उसके पार्श्ववर्तियोंको जो कुछ वे कहना चाहते हैं, बिना टोके[1], कहने दे। यदि वे प्रसंगको छोड़कर दूसरी बातें करने लगें, तो उन्हें मुख्य विषयकी ओर आकृष्ट कर लेना चाहिए। परीक्षा प्रारंभ करते समय ही रोगी तथा पार्श्व-

---

१—बीचमें टोक देनेसे कहने वालोंकी विचार धारा टूट जाती है, वे जो कुछ कहना चाहते थे भूल जाते हैं और फिर ठीक वैसे ही नहीं कह सकते।

वर्तियोंसे कह देना चाहिए कि वे जो कुछ कहें शनैः-शनैः कहें जिससे उनके कथनके मुख्य-मुख्य अंशको चिकित्सक लिख सके।

लक्षणोंको लिखनेकी विधि

८५—रोगीकी तथा उसके पार्श्ववर्तीकी कही हुई प्रत्येक नयी बातको नयी-नयी पंक्तियोंमें लिखते जाना चाहिए। इस प्रकार सब लक्षण भिन्न-भिन्न पंक्तिमें एकके नीचे एक क्रमसे लिपिबद्ध हो जायँगे। इस प्रकार लिखनेसे बड़ी भारी सुविधा यह हो जाती है, कि यदि पहली बार कोई लक्षण सूक्ष्मतया कह दिया गया हो, तो पुनः उसका स्पष्टीकरण होनेपर उसी पंक्तिमें आवश्यक बात जोड़ दी जा सकती है।

प्रश्न करके लक्षणोंको स्पष्ट कर लेना चाहिए।

८६—जब रोगी और उसके पार्श्ववर्ती स्वयं जो कुछ कहना चाहते हों उसे कह चुकें, तब चिकित्सक आरम्भसे उनके कहे हुए प्रत्येक लक्षणको स्पष्ट करनेके लिये आगे वर्णित विधिसे पूछ-ताछ करे। चिकित्सकका कर्तव्य है कि उसने जो कुछ लिखा है उसे एक एक करके पढ़े और सुनावे तथा प्रत्येक लक्षणको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकार प्रश्न करे, यथा, अमुक लक्षण किस समय प्रकट हुआ, जिस औषधका वह सेवन करता था उसका सेवन करनेके पहले, उसका सेवन करते समय अथवा उसका सेवन बन्द कर देनेके कई दिनोंके पश्चात्? अमुक भागमें किस प्रकारकी पीड़ा, किस प्रकारकी अनुभूति हुई? पीड़ाकी अनुभूति ठीक-ठीक कहाँ हुई? क्या पीड़ा भिन्न-भिन्न समयमें रह-रह कर स्वयं हुई? अथवा क्या पीड़ा, बिना घटे, लगातार होती रही? कितने समय तक पीड़ा होती रही? दिनके अथवा

रात्रिके किस पहरमें तथा शरीरकी किस परिस्थितिमें पीड़ा बहुत बढ़ गई अथवा घट गई ? अमुक-अमुक घटना अथवा परिस्थिति-का सटीक वर्णन करो । इत्यादि ।

प्रश्न सुझाव-रहित होना चाहिए ।

८७—इस प्रकार प्रत्येक लक्षणके संबन्धमें चिकित्सकको आवश्यक बातें जान लेनी चाहिए । परन्तु रोगीसे कदापि ऐसा प्रश्न न किया जाय जिसमें उत्तरका सुझाव वर्तमान हो और जिसका उत्तर केवल 'हाँ' और 'न' से दिया जा सके । अन्यथा आलस्यके कारण अथवा चिकित्सकको प्रसन्न करनेके निमित्त रोगी 'हाँ' अथवा 'न' करके असत्य, अर्ध सत्य अथवा किंचित् असत्य बात कह देगा । ऐसी बातसे रोगमूर्तिका चित्र अयथार्थ हो जायगा । फलतः चिकित्सा भी अनुपयुक्त हो जायगी ।

यदि रोगीने और उसके पार्श्ववर्तियोंने रोगीकी मानसिक दशाके तथा उसके विभिन्न अंगोंकी क्रियाके सम्बन्धमें कुछ न बतलाया हो, तो प्रश्न करके स्पष्ट कर लेना चाहिये ।

८८—यदि रोगीने अथवा उसके पार्श्ववर्तियोंने रोगीके विभिन्न अङ्गोंके संबन्धमें, उनकी क्रियायोंके संबन्धमें, अथवा उसकी मान-सिक दशाके संबन्धमें कुछ न कहा हो, तो प्रश्न करके उन विषयों-को स्पष्ट कर लेना चाहिए । परन्तु प्रश्न ऐसे हों जिनका उत्तर देनेके लिये रोगीको विषयका वर्णन करना पड़े[१] ।

१—यथा, मल कैसा होता है ? मूत्र-त्याग कैसा होता है ? निद्रा कैसी आती है ? स्वभाव कैसा है ? मन कैसा है ? स्मरण शक्ति कैसी है ?

रोगीका कथन पूरा हो जानेपर भी यदि किसी विषयमें सन्देह रह जावे, तो पुनः प्रश्न करके उसे स्पष्ट कर लेना चाहिए।

८६—अपनी अनुभूतियोंका ठीक वर्णन रोगी स्वय कर सकता है। उसीका कथन चिकित्साका मुख्य आधार हो सकता है। अत एव जब रोगी अपनी कथा पूरी कह चुके, तथा उससे जो प्रश्न पूछे गये उनके उत्तर देकर वह अपने रोगका पूरा वर्णन कर चुके, तब भी यदि चिकित्सकको किसी बातमे सदेह अथवा भ्रम प्रतीत हो, तो रोगीसे पुन. प्रश्न करके उस बातको स्पष्ट कर लेना चाहिए[१]।

प्यास कैसी लगती है ? मुखम कैसा स्वाद रहता है ? किस प्रकारके भोजन और पेयकी रुचि होती है ? किससे अत्यन्त अरुचि है ? जो वस्तु जिस स्वादकी होती है उसे उसका वही स्वाद आता है अथवा कोई विलक्षणता प्रतीत होती है ? भोजन करने तथा पानी पीनेके पश्चात् कैसा लगता है ? शिर, उदर, हाथ पाँवके सम्बन्धम कुछ कहना है ? आदि।

१—यथा, उसे कितने वार मलत्याग होता है ? मल ठीक-ठीक कैसा होता है ? आँवके कारण मलका रंग श्वेत होता है, अथवा मलका रंग ही श्वेत होता है ? मलत्याग करते समय किसी प्रकारका कष्ट होता है ? किस प्रकारका कष्ट होता है और किस भागमें होता है ? वमनमें क्या निकलता है ? मुखम कैसा दु स्वाद रहता है, खट्टा, कड़वा, सड़ासा अथवा कैसा ? इस दु स्वादका अनुभव कब विशेष रूपसे होता है ? भोजनके पूर्व, भोजनके समय, भोजनके पश्चात् अथवा कब ? दु स्वादका अनुभव कब, किस पहरम अति अधिक होता है ? किस स्वादकी डकार आती है ? मूत्र गँदला ही निकलता है अथवा कुछ समयके पश्चात् गँदला हो जाता है ? मूत्र किस रगका निकलता है ? मूत्रमे किस रगकी तलछट बैठ जाती है ?

निद्रा लग जानेपर रोगी क्या करता है ? क्या नींदमें वह कहँरता है, रोता है, चिल्लाता है, अथवा चौंक पड़ता है ? यदि निद्रित अवस्थामें रोगीकी नाकसे शब्द होता है, तो कब, श्वास लेते समय अथवा श्वास छोड़ते समय ? रोगी प्रायः किस करवट सोता है ? क्या उतान ही पड़ा रहता है ? कपड़ा ओढ़ता है कि ओढ़ना हटा देता है ? निद्रा गहरी आती है अथवा शीघ्र जग जाता है। रोगीका मन कैसा रहता है ? अमुक लक्षण कितने बार होता है ? किस अवस्थामें होता है ? बैठनेमें, लेटनेमें अथवा चलने-फिरनेमें ? बिना कुछ खाए पिए होता है ? प्रातःकाल होता है ? केवल प्रातःकाल होता है ? भोजनके पश्चात् होता है अथवा केवल सायंकालमें होता है ? प्रायः किस समय होता है ? जाड़ा कब लगा ? जाड़ा लगते समय शीतका अनुभवमात्र होता है अथवा उसका शरीरभी वास्तवमें शीतल हो जाता है ? शरीरका कौन कौन भाग शीतल हो जाता है ? अथवा जाड़ा लगते समय शरीर उष्ण ही रहा ? जाड़ा लगते समय क्या शीतका अनुभव ही होता है परन्तु कँपकपी नहीं होती ? क्या शरीर उष्ण रहनेपर भी मुखमण्डल लाल नहीं होता ? शरीरके कौन-कौन भाग उष्ण रहते हैं ? कितने समय तक जाड़ा लगता है ? कितने समय तक ताप रहा ? प्यास कब आरंभ होती है ? जब जाड़ा लगता है, अथवा जब ताप हो जाता है, अथवा उसके पूर्व, अथवा उसके पश्चात् ? प्यास कैसी लगती है ? क्या पीनेकी रुचि होती है ? प्रस्वेद कब आरंभ होता है ? तापके प्रारम्भमें, अथवा तापके अन्तमें ? अथवा तापके कितने घण्टे पीछे ? जब प्रस्वेदका प्रारंभ हुआ, तब वह सो रहा था कि जग रहा था ? प्रस्वेद कैसा हुआ ? प्रस्वेद उष्ण था कि शीतल ? किस भागमें प्रस्वेद हुआ ? प्रस्वेदमें कैसी गंध होती है ? जाड़ा लगनेके पहले अथवा जाड़ा लगते समय, किसी प्रकारका कष्ट होता है ? कष्ट कब होता है और कैसा होता है ? तापके समय कैसा कष्ट था ? तापके पश्चात् कैसा

रोगीका निरीक्षण स्वयं करके चिकित्सकको उसकी विचित्रताओंको भी लिख लेना चाहिए।

६०—उपर्युक्त विशेष बातोंका उल्लेख कर लेनेपर चिकित्सक स्वयं रोगीका भली भाँति निरीक्षण करे और उसमे जिन विचित्र बातोंको पावे लिख लेवे। तदनन्तर रोगीसे प्रश्न करके यह निश्चय

कष्ट होता है? प्रस्वेद होनेके पहले अथवा प्रस्वेद होते समय, यदि कोई कष्ट होता है तो कैसा कष्ट होता है? नारियासे रज स्राव तथा अन्य स्रावोंके सम्बन्धमें पूछ लेना चाहिए।

१—यथा परीक्षा करते समय रोगीका वर्ताव कैसा रहा? अर्थात् क्या रोगी उदास, झगड़ालू, उतावला, अश्रुपूर्ण, चिन्तित, हताश, शोकाकुल, आशापूर्ण, अथवा शान्त था? क्या वह तन्द्रालु था, अथवा अन्य किसी कारणसे वह बात नहीं समझ सकता था? उसकी बात-चीत रूखी थी, धीमी थी अथवा असगत थी? उसके मुखमण्डल, नेत्र तथा त्वचाका क्या वर्ण था? उसके नेत्रोंसे तथा चेष्टासे कितनी शक्ति और प्रसन्नता झलकती थी? उसकी जिह्वा श्वास प्रश्वास, मुखकी गन्ध तथा श्रवण शक्ति कैसी थी? नेत्र पुतलियाँ सिकुड़ी अथवा फैली थीं? प्रकाश और अन्धकारसे नेत्र पुतलियोंमें कैसा तथा कितने शीघ्र परिवर्तन होता था? नाड़ीकी गति कैसी थी? उदरकी दशा क्या थी? शरीरकी त्वचा अथवा किसी एक भागकी त्वचा कितनी सूखी, आर्द्र, अथवा उष्ण थी? रोगी किस अवस्थामें पड़ा था? शिर पीछे करके? मुख आधा खोलकर अथवा मुख बाए हुए? शिरपर हाथ रखे हुए? पीठके बल? अथवा किस दशामें? उठनेके लिये वह किस प्रकार प्रयत्न करता रहा? इत्यादि अनेक बातें जिन्हें चिकित्सक विचित्र समझे लिख लेवे।

करे कि उन विचित्र बातोंमें से कौन-कौन सी विचित्रता स्वस्थ दशामें भी वर्तमान थी।

किसी अन्य औषधको सेवन करते समय जो लक्षण प्रकट होते हैं वे रोगके वास्तविक लक्षण नहीं होते।

६१—जब रोगी किसी औषधका सेवन करता रहता है, उस समय जो लक्षण प्रकट होते हैं और जो अनुभूतियाँ होती हैं उनसे रोगका वास्तविक रूप नहीं प्रकट होता। परन्तु औषध प्रारम्भ करनेके पहले तथा औषध बन्द कर देनेके कई दिनोंके पश्चात्, जो लक्षण और पीड़ाएँ रहती हैं उन्हींसे रोगके प्रधान रूपका चित्रण हो सकता है। ऐसे लक्षणोंको अवश्य लिख लेना चाहिए। यदि रोग चिर है और रोगीने परीक्षाके दिन तक किसी औषधका सेवन किया है, तो उत्तम यही है कि रोगीको कुछ दिन बिना औषधके रहने देना चाहिए, अथवा उसे कोई ऐसी वस्तु औषधके स्थानमें दी जानी चाहिए जिसमें औषध-गुण न हो। फिर कई दिन बीत जानेपर उसके लक्षणोंका जो समह किया जायगा उससे उसके रोगका अविकल रूप प्रकट हो सकेगा उस समह में रोगके वास्तविक एव स्थायी लक्षण होंगे। जिनसे उसके चिर रोगकी यथार्थ मूर्ति बन सकेगी।

यदि रोग भयंकर हो और शीघ्र बढ़ रहा हो, तो पूर्व औषधोंके सेवनसे दशा परिवर्तित हो जानेपर भी रोगीके वर्तमान लक्षणोंको अधार बनाकर औषध देना चाहिये।

६२—परन्तु यदि रोग शीघ्रतासे बढ रहा हो, यदि रोगकी भीषणताके कारण विलम्ब करना वाञ्छनीय न हो, यदि पूर्व

औषधोंके प्रयोगसे रोगकी वास्तविक दशा परिवर्तित भी होगई हो, तथा यदि चिकित्सकको यह पता न लग सके कि औषधोंके प्रयोगके पहले रोगीके लक्षण क्या थे, तो ऐसी अवस्थामें रोगीके वर्तमान लक्षणोंके ही संग्रहसे चिकित्सकको सन्तोष कर लेना होगा। उस लक्षण-संग्रहसे चिकित्सकको रोगीकी वर्तमान दशाका पूर्ण चित्र मिल जायगा। ऐसे संग्रहमें रोगके वास्तविक लक्षण और पहले सेवन की गई औषधके लक्षण, दोनों मिश्रित रहते हैं। परन्तु क्या किया जाय। अनुपयुक्त औषधोंके सेवनके कारण यह मिश्रित अवस्था वास्तविक रोगसे प्रायः कहीं अधिक भीषण और भयंकर हो जाती है। इसलिये तत्काल ही उपयुक्त औषध-प्रयोगद्वारा उसका उपशम किया जाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार ऐसी परिस्थितियोंमें, वर्तमान रोगका पूरा चित्र बनाकर सदृश विधानकी उपयुक्त औषधसे, चिकित्सक रोगका शमन कर सकता है, तथा अनुपयुक्त औषध-सेवनके दुष्परिणामसे रोगीको बचा सकता है।

रोगके विशेष कारणका भी पता सावधानीसे लगा लेना चाहिए।

६३—यदि तुरंतके रोगका अथवा कुछ समयसे हुए रोगका कोई विशेष कारण हो, तो रोगी स्वयं बतला देता है अथवा सावधानीसे पूछनेपर[1] कह देता है। यदि इस प्रकार उसका पता न लगे तो रोगीके मित्रोंसे एकान्तमें पूछकर जान लेना चाहिये।

१—अपमान-जनक कारणोंको रोगी अथवा उसके मित्रगण प्रायः स्वयं नहीं बतलाते। अत एव चिकित्सकको बड़ी सावधानीसे प्रश्न करके अथवा एकान्तमें पूछताछ करके ऐसे कारणोंका पता लगा लेना चाहिये।

चिर रोगोंके विषयमें अनुसंधान करते समय रोगीकी विशेष परिस्थितियोंका भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

६४—चिर रोगोंकी दशाका अनुसंधान करते समय रोगीकी विशेष परिस्थितियोंका भी विचार कर लेना चाहिये, यथा—उसका दैनिक व्यवसाय क्या है? उसकी दिनचर्या कैसी है? वह क्या भोजनादि करता है? उसकी कौटुम्बिक तथा घरेलू परिस्थिति कैसी है? संभव है इनमें कोई बात ऐसी निकल आवे जिससे रोगको आश्रय मिलता हो। उसे दूर करदेनेसे रोगनाशमें सहायता हो सकती है[1]।

---

[1] ऐसे कारण प्रायः इस प्रकारके होते हैं, यथा—विषपान, आत्महत्याकी चेष्टा, हस्तमैथुन, अत्यधिक प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक कामवासना, अति मदिरापान अथवा अन्य मादक पेयका अति सेवन, अति आहार अथवा वस्तुविशेषका अति सेवन, कच्छु अथवा रतिज रोगका संक्रमण, अतृप्त प्रेमवासना, द्वेष, गृहकलह, चिन्ता, दुर्भाग्य, मृत्यु, अपमानादिका शोक, आर्थिक कष्ट, काल्पनिक भीति, क्षुधातिशय, जननेन्द्रियकी असमर्थता अथवा बाहर निकल आना, आदि।

१—नारियोंके चिर रोगोंका अनुसंधान करते समय उनकी गर्भावस्था, वन्ध्यात्व, गर्भपात तथा दुग्धस्राव भी विचारणीय है। मासिक ऋतुस्रावपर तो विशेष ध्यान देना चाहिये। यह जाननेका प्रयत्न करना चाहिए कि क्या मासिक ऋतु समयके बहुत पहले अथवा कुछ दिन टलकर होता है? ऋतु स्राव कितने दिन होता है? स्राव प्रतिदिन होता है अथवा रुक-रुककर होता है। ऋतु-स्रावका परिमाण साधारणतया कितना होता है? उसका रूप और रंग क्या रहता है? ऋतु-स्रावके पूर्व अथवा उसके अन्तमें प्रदर तो नहीं रहता। ऋतु-स्रावके पूर्व, उसके साथ-साथ अथवा अन्तमें क्या कोई शारीरिक अथवा मानसिक व्यथा, अनुभू-

चिर रोगोंके अनुसंधानमें अत्यन्त नगण्य रोगलक्षणोंको भी लेख-बद्ध कर लेना चाहिए। वे महत्त्वपूर्ण होते है।

६५–चिर रोगोंकी परीक्षा करते समय उपर्युक्त लक्षणोंका तथा अन्य सभी लक्षणोंका अनुसधान, जहाँतक सभव हो, परिस्थितियोंका विचार करते हुए बडी सावधानीसे करना चाहिए। साधारणसे साधारण विशेषताओंपर भी पूरा ध्यान देना चाहिए। इसके मुख्य दो कारण हैं। १–चिर रोगोंमे अत्यन्त नगण्य लक्षण भी महत्त्वपूर्ण होते हैं, और वे आशु रोगके लक्षणोंसे सर्वथा भिन्न होते हैं। अत एव रोगनाश करनेके लिये उनका यथावत् लिखा जाना परम आवश्यक है। २–चिर कालसे कष्ट भोगते भोगते रोगी इतना अभ्यस्त हो जाता है कि छोटे-छोटे लक्षणोंकी ओर उसका ध्यान ही आकृष्ट नहीं होता। परंतु प्राय होते हैं वे महत्त्वपूर्ण और औषध-निर्वाचनमे परम सहायक। प्राय १५ २० वर्षों तक भोगत-भोगते चिर रोगग्रस्त रोगी स्वस्थ दशाकी अनुभूतिको भूल हो जाता है। छोटे मोटे रोग-लक्षणोंको स्वस्थ दशाकी बात ही समझने लगता है। उसे यह विश्वास ही नहीं रह जाता कि उसके मुख्य रोगसे उन नगण्य लक्षणोंका भी कोई सबन्ध हो सकता है।

रोगियोंका स्वभाव भी कई प्रकारका होता है। कोई-कोई रोगी अत्यन्त असहिष्णु और अधीर होते हैं।

६६—इसके अतिरिक्त रोगी भी कई प्रकारकी मनोवृत्ति और

तियाँ अथवा पीड़ा होती है ? यदि प्रदर हो, तो उसका रूप, रग और परिमाण क्या है ? किस दशा और परिस्थितिमे प्रदरका स्राव होता है ?

स्वभावके होते हैं। कोई-कोई व्याधि-कल्पनासे पीडित रहते हैं। कोई-कोई इतने असहिष्णु और अधीर होते हैं कि वे अपने कष्टोंको अत्यन्त स्पष्टरूपसे तथा अतिरंजित करके वर्णन करते हैं। इस अभिप्रायसे कि चिकित्सक उनके कष्टको दूर कर देवे, वे अतिशयोक्ति किया करते हैं[1]।

किसी-किसी रोगीका स्वभाव कोमल होता है और मन दुर्बल होता है। ऐसे रोगी आलस्यके कारण सब लक्षणोंको नहीं कहते।

६७—कुछ व्यक्तियोंका स्वभाव इसके विपरीत होता है। अंशतः आलस्यके कारण, अंशतः अनुचित विनयके कारण, अंशतः स्वभावकी कोमलताके कारण, अथवा मनकी दुर्बलताके कारण, वे अपने सब लक्षणोंको प्रकट नहीं करते, अथवा

१—व्याधि कल्पनाके रोगियोंमें, चाहे वे कितने भी अधीर क्यों न हों, रोगकी निरी कल्पना ही नहीं हुआ करती। यदि चिकित्सक ऐसे रोगीको कुछ समय तक बिना औषधके रहने देवे, अथवा औषधके नामसे कोई ऐसी वस्तु देता रहे जिसमें कोई औषध-शक्ति न हो, और उस बीचमें कई बार उसके कष्टका वर्णन सुने, तो प्रत्येक बारके वर्णनका आपसमें संतुलन करनेसे यह स्पष्ट हो जायगा। परन्तु ऐसे रोगियोंकी अतिशयोक्तिसे भी हमें कुछ निष्कर्ष निकालना ही चाहिए। यह स्पष्ट है कि अपनी असहिष्णुताके कारण ही वे अपने कष्टके वर्णनमें अतिशयोक्ति करते हैं। इसलिये ऐसे रोगियोंकी रोगमूर्तिको निश्चय करनेके लिये "अतिशयोक्ति" स्वयं एक प्रधान लक्षण हो जाता है। पागलों और मिथ्या रोगी बननेवालोंकी बात ही दूसरी होगी।

अस्पष्ट शब्दोंमें वर्णन करते हैं और कुछ लक्षणोंको महत्त्वरहित बतलाते हैं।

रोग मूर्तिको निश्चित करनेके लिये स्वयं रोगीके शब्द पर विश्वास करना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह है कि चिकित्सकको मानव-प्रकृतिका ज्ञान हो तथा वह धैर्य और सावधानीसे अनुसंधान करे।

६८- मित्र और सेवक रोगीके कष्टोंका यथावत् वर्णन नहीं कर सकते। उनके शब्दोंमें परिवर्तन और भूल हो जाया करती है। अत एव अपने कष्टों और अनुभूतियोंका जो वर्णन रोगी स्वयं करता है उसे ध्यान-पूर्वक सुनना चाहिए। जिन शब्दोंमें वह अपने कष्टोंको समझानेका प्रयत्न करता है उन्हींपर विश्वास करना चाहिए। रोगोंका, विशेषकर चिर रोगोंका, पूर्ण और विचित्रताओंसहित वास्तविक चित्र बनानेके लिये यह जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक यह भी है कि चिकित्सकको मानव-प्रकृतिका प्रगाढ़ ज्ञान हो, वह अत्यन्त धीर, सचेत एवं चतुर हो, तथा पूर्ण सावधान होकर अनुसंधान करे।

आशु रोगोंके लक्षण नूतन और टटके होते हैं, इसलिये रोगी स्वयमेव उनका वर्णन करते हैं।

६९—आशु रोगोंके अनुसंधानमें अथवा उन रोगोंके अनुसंधानमें जिनको हुए कुछ ही (अल्प) समय बीता हो, चिकित्सकको विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। कारण यह है कि नूतन और टटके होनेके कारण, रोगकृत परिवर्तनों और लक्षणोंको रोगी तथा उसके मित्र भूल नहीं जाते। उनका मन उनपर

आकर्षित होता रहता है। अत एव रोगी (तथा उसके मित्र) स्वयमेव उनका वर्णन करते हैं। यद्यपि ऐसे रोगोंका भी पूर्ण विवरण चिकित्सक जानना चाहता है, तथापि उसे अधिक पूछ-ताछ करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

महामारियोंका अनुसंधान।

१००—महामारीके अथवा यत्र-तत्र फैले हुए रोगोंके लक्षण समुच्चयका अनुसधान करते समय, यह विचारना नितान्त अनावश्यक है कि इस प्रकारका रोग ससारमे पहले कभी हुआ था कि नहीं और उसका क्या नाम था। उसी प्रकारके रोगकी विचित्रता और नूतनतासे प्रस्तुत रोगका अनुसधान अथवा उसकी चिकित्सा वाधित नहीं हो सकती। यदि चिकित्सकको वास्तविक चिकित्साकार्य करना है, और रोगनाशक चिकित्सा करनी है, तो प्रत्येक व्यापक रोगको नूतन तथा अज्ञात मानकर ही उसकी रोग-भूतिका पूर्ण अनुसधान करना चाहिए। अपने अनुसधानमे अनुमानको कभी स्थान नहीं देना चाहिए, और कभी ऐसा न मान लेना चाहिए कि प्रस्तुत रोगको वह पूर्णत अथवा अशत. जानता है; वरन् प्रत्येक प्रस्तुत रोगका सावधानीसे सर्व देक् अनुसधान करना चाहिए। महामारीमे तो इस प्रकारका अनुसधान अधिक आवश्यक हो जाता है; कारण कि सावधान परीक्षासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक प्रस्तुत महामारी प्रकृतिकी अभूत-पूर्व घटना हुआ करती है तथा वह किसी पूर्व महामारीके सदृश नहीं होती, चाहे पूर्व महामारीका जो भी नाम रहा हो। इसका अपवाद वही महामारी होती है जो सर्वदा एकही निश्चित रोग-बीजके कारण फैला करती है, यथा शीतला और छोटी शीतला।

१०१—बहुत सभव है कि चिकित्सकको किसी महामारीका जो पहला रोगी मिले, केवल उसीकी परीक्षासे वह उस महामारीकी रोगमूर्तिका पूर्ण चित्रण न कर सके, कारण कि ऐसे रोगोंके लक्षण-समुच्चयका ज्ञान तो अनेक रोगियोंकी सावधान परीक्षा करनेपर ही प्राप्त हो सकता है, तथापि सभव हो सकता है कि दो रोगियोंकी ही विधिवत् परीक्षा करनेपर सावधान चिकित्सक किसी महामारीका इतना निकट परिचय प्राप्त करले, कि उसकी रोगमूर्तिको स्पष्टतया अपने मानस पटलपर अकित कर सके, तथा सदृश विधानके अनुसार उसके लिये अत्यन्त उपयुक्त औषधको ढूँढ निकालनेमे भी सफल हो सके।

१०२—ऐसे अनेक रोगियोंके लक्षणोंका सकलन करनेसे रोगका पूर्ण चित्र बन जाता है। वह अधिक लबा-चौडा नहीं हो जाता, अधिक शब्दाडम्बरपूर्ण नहीं हो जाता, वरन् अधिक स्पष्ट हो जाता है। उसमे महामारीके विशेष लक्षणोंका अधिकाधिक समावेश हो जाता है। एक ओर तो उस रोगके साधारण लक्षणों की (यथा निद्रा, क्षुधादिके अभावकी) विशेषताएँ प्रकट हो जाती हैं, दूसरे उसके वे विशेष लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं जो कदाचित् ही किसी अन्य रोगमें एक-साथ पाए जाते हैं। ऐसे विशेष लक्षणों का ही समूह उस रोगके प्रधान लक्षणोंका समूह हो जाता है[1]। सामयिक महामारीसे पीडित सब रोगी एक ही कारणसे आक्रान्त होते हैं। अत एव उन सबका रोग यद्यपि एक ही होता है, तथापि ऐसे

१—एक रोगीकी परीक्षा करके जो औषध सदृश विधानके अनुसार प्रस्तुत महामारीके लिये महौषध स्थिर की जावे, सभव है दूसरे रोगियोंकी परीक्षा करनेपर उसी औषधकी उपयुक्तता पुष्ट हो जावे, अथवा कोई दूसरी अधिक उपयुक्त औषध निकल आवे।

रोगका पूर्ण स्वरूप और उसका लक्षणसमुच्चय एक ही रोगीकी परीक्षासे नहीं जाना जा सकता। रोगजन्य लक्षणोंका पूरा अनुसंधान करनेपर ही रोगके पूर्ण स्वरूपका बोध हो सकता है, और लक्षण समुच्चयका ज्ञान हो सकता है। सदृश विधानके अनुसार इस लक्षणसमूहके लिये अत्यन्त उपयुक्त औषध भी तभी चुनी जा सकती है। अत एव भिन्न-भिन्न प्रकृतिके अनेक रोगियोंके कष्टोंका अनुसंधान करनेपर ही किसी महामारीका पूर्ण स्वरूप और लक्षणसमुच्चय स्थिर किया जा सकता है।

इसी प्रकार चिर रोगोंके मूल तत्त्वका अनुसंधान करके कच्छुकी महती रोगमूर्तिका पूर्ण उद्घाटन करना चाहिए।

१०३—महामारियाँ प्राय. आशु होती हैं। उनके विषयमे जैसा बतलाया गया है वैसा ही चिर रोगोंके, विशेषतः कच्छुके, समग्र लक्षणोंका भी अनुसधान करना आवश्यक है। चिर रोगोंका अनुसधान, जितनी सूक्ष्मतासे पहले किया जाता था, उससे बहुत अधिक सूक्ष्मतापूर्वक करना चाहिए। यद्यपि चिर रोगोंका मूल स्वरूप सदा एक ही रहता है, तथापि एक ही रोगीमे उसके कुछ ही लक्षण प्रकट होते हैं, दूसरे, तीसरे आदि रोगियोंमे अन्य-अन्य लक्षण आविर्भूत होते हैं. परन्तु वे सब समग्र लक्षण-समूहके अंश-मात्र ही होते हैं। अभिप्राय यह है कि चिर रोगोंके, विशेषकर कच्छुके, समग्र लक्षण-समूहका संकलन बहुतसे रोगियोंकी परीक्षा करनेसे ही सभव होता है। इन लक्षणोंके पूर्ण अनुसंधान और सामूहिक चित्रण बिना, समग्र चिर रोगको नाश कर सकनेवाली सदृश औषधोंका (कच्छु विष-नाशक औषधोंका) निश्चय नहीं हो सकता। इस विधिसे निश्चित हुई औषधोंसे ही चिर रोगग्रस्त रोगियोंका वास्तविक कल्याण हो सकता है।

चिकित्सा-कार्य को ठीक-ठीक अग्रसर करनेमें तथा रोगका नाश करनेमें लेखबद्ध रोगमूर्ति परम उपयोगी होती है।

१०४—प्रत्येक रोगीका लक्षण समुच्चय भिन्न हुआ करता है। अपने विशेष लक्षणोंद्वारा प्रत्येक रोगी अपने समान अन्य रोगियोंसे पृथक् किया जा सकता है। अत एव रोगीके लक्षण-समुच्चयका अथवा उसकी रोगमूर्तिका स्पष्ट शब्दोंमें चित्रण करना चिकित्सासम्बन्धी अति महत्त्वपूर्ण कार्य है¹। उसके पूर्ण

१—प्राचीन चिकित्सा विधानके अनुसार चिकित्सकोंको इस प्रकारका परिश्रम नहीं करना पड़ता। रोगीके कष्टोंका वर्णन वे सुनते ही नहीं, प्रत्युत यदि रोगी अपना कष्ट वर्णन करनेका प्रयत्न करता है तो रोक दिया जाता है। कारण कि विधिपत्र (Prescription चिकित्सा पत्र) लिखनेमें कहीं विलम्ब न हो जाय! विधिपत्र भी कैसा? जिसमें ऐसी औषधोंकी नामावली लिखी जाती है जिनकी क्रिया को एवं जिनके फलको चिकित्सक स्वयं नहीं जानते! एलोपैथिक चिकित्सक इस प्रकार रोगीके कष्टोंका अथवा उनके विवरणको जाननेका भी प्रयत्न कभी नहीं करते, लिखना तो दूर रहा। कई दिनके पश्चात् जब वे पुनः रोगीको देखते हैं, उस समय रोगीके पूर्व कष्टका भला उन्हें कितना स्मरण रह सकता है। तबतक तो वे अनेक प्रकारके कई रोगियोंको भी देख चुकते हैं। उनके पास रोगीका कोई लक्षणसंग्रह तो रहता नहीं। वास्तवमें तो, जिस समय पहले पहल उन्होंने रोगीको देखा था उस समय उसने अपने कष्टोंका जो भी वर्णन किया हो उसे तो चिकित्सक महोदयने एक कानसे सुना और सुनतेही दूसरे कानसे बाहर निकाल दिया था। अत एव जब वे पुनः रोगी को देखते हैं तब कुछ साधारण प्रश्न कर लेते हैं, और नाड़ी तथा जिह्वा आदि को देखनेका नाटक करके, बिना किसी आधारके ही, शीघ्र

हो जानेसे रोगमूर्ति विशेषकर चिर रोगमूर्ति चिकित्सकके समक्ष हो जाती है तथा चिकित्साकार्यमें पथप्रदर्शन कर सकती है। सकलित रोगमूर्तिके प्रत्येक अगके विषयमें अनुसधान करके चिकित्सक उन विशेष लक्षणोंको स्थिर कर सकता है जिनके शमनसे समग्र रोगका नाश हो जाना अवश्यभावी है। औषधोंके विशेष लक्षण भलीभाँति विदित हो रहते हैं। अत जिस औषधके विशेष लक्षणोंमें रोगके विशेष लक्षणोंका अत्यन्त सादृश्य हो, उसका निश्चय करके और विधिवत् प्रयोग करके रोगके विशेष लक्षणोंका अर्थात् समग्र रोगका नाश किया जा सकता है। चिकित्सा-कालमें यदि कभी यह जानना हो कि औषधने क्या फल किया अथवा उसके प्रयोगसे रोगी की दशामें

नया विधिपत्र लिखदेते हैं अथवा पुराने विधिपत्रके अनुसार औषध सेवन करनेका आदेश दे देते हैं। बस, सभ्यता पूर्वक शिर हिलाते हुए उस दिनके पचासवें अथवा साठवें रोगीको इसी प्रकार अविचार पूर्वक देखने के लिये चले जाते हैं॥

चिकित्सा कार्य अत्यन्त गम्भीर एव विचारपूर्ण कार्य है। प्रत्येक रोगीकी दशाकी सूक्ष्म परीक्षा, विवरणपूर्ण अनुसधान एव सम्पूर्ण मनोयोगके बिना चिकित्साकार्य समुचित नहीं हो सकता। कारण कि प्रत्येक रोगीके लक्षणोंके अनुसार ही चिकित्साका क्रम निश्चय किया जा सकता है। परन्तु हा! चिकित्सक, और सभ्य चिकित्सक कहलानेवाले प्राचीन प्रथाके अनुयायी इस महान उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवसायको इस प्रकार करते हैं। फल भी, अनुमान करना सरल है, सर्वदा अनिष्ट ही होता है। सच्चिकित्सकोंके अभावमें, तथा अशत लोकलज्जाके कारण, रोगियोंको अवतक ऐसे ही चिकित्सकोंकी शरण लेनी पड़ती थी।

क्या परिवर्तन हुआ, तो रोगीकी पुनः परीक्षा करके, जो लक्षण न रह गए हों उन्हें काट देना चाहिए, बचे हुए लक्षणोंको रेखांकित कर देना चाहिये, तथा यदि कुछ नये लक्षण प्रकट हो गए हों तो उन्हें लिख लेना चाहिए। इस प्रकार लेखबद्ध रोगचित्रको संशोधित कर लेनेसे यह विदित हो जाता है कि निर्वाचित औषधके प्रयोगका फल क्या हुआ।

चिकित्साका द्वितीय अङ्ग

औषध-परिणामोंका अनुसंधान

(सूत्र १०५ से सूत्र १४५ पर्यन्त)

स्वस्थ व्यक्तियोंमें औषध प्रयोग द्वारा उत्पन्न होनेवाले विशुद्ध परिणामोंका अनुसंधान। प्राथमिक क्रिया। गौण क्रिया।

१०५—प्राकृतिक रोगोंका नाश करनेवाले साधनोंका ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् औषधोंका विकारोत्पादक शक्तियोंका अनुसधान करना चिकित्सकका द्वितीय कर्तव्य है। अवसर प्राप्त होने पर प्रस्तुत रोगीके प्राकृतिक रोगका नाश करनेके निमित्त चिकित्सकको इस बातका स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि किस औषधसे ऐसा लक्षणसमूह उत्पन्न हो सकता है जो रोगीके विशेष लक्षण-समुच्चयके अत्यन्त सदृश है। तभी वह समुचित औषधका निर्वाचन कर सकेगा।

१०६—औषधोंके समस्त विकारात्मक परिणामोंका ज्ञान, अर्थात्, उन सब विकारोंका ज्ञान जो प्रत्येक औषध उत्पन्न कर सकती है, चिकित्सकको होना ही चाहिये। प्रत्येक औषध स्वस्थ व्यक्तियोंके स्वास्थ्यमें जिन विकारोंको विशेष रूपसे उत्पन्न कर सकती है उनका यथासभव ज्ञान प्राप्त हो जानेपर ही चिकित्सक प्राय सभी प्राकृतिक रोगोंके लिये उपयुक्त सदृश औषधका निर्वाचन कर सकता है।

१०७—औषधोंके परिणामोंको निश्चय करनेके लिये यदि उनका प्रयोग अस्वस्थ व्यक्तियों पर ही किया जावे, तो—चाहे वे एक-एक अमिश्रित ही क्यों न दी जावें—उनके वास्तविक परिणामोंका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। अस्वस्थ व्यक्तिपर औषध प्रयोग करनेसे, औषधके परिणाम रोग-परिणामके साथ मिश्रित हो जाते हैं और वे (औषध-परिणाम) स्पष्टतया प्रत्यक्ष नहीं हो पाते।

१०८—अत एव, मानव-स्वास्थ्यपर औषधोंके विचित्र परिणामोंका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करनेका कोई दूसरा उपाय

नहीं है। इस उद्देश्यकी पूर्तिका सर्व श्रेष्ठ उपाय यही है कि प्रत्येक औषधका प्रयोग अल्प मात्रामें स्वस्थ व्यक्तियोंपर किया जावे। मानवस्वास्थ्यमें—शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकारके स्वास्थ्य-में—प्रत्येक औषधके प्रभावसे कैसे परिवर्तन, लक्षण, और चिह्न उत्पन्न हो सकते हैं, अर्थात् प्रत्येक औषधमें किन रोग-लक्षणोंको उत्पन्न करनेकी शक्ति और प्रवृत्ति होती है[1]—इसे भली भाँति जाननेके लिये कोई दूसरा उपाय इतना नियमित और निश्चयात्मक नहीं हो सकता। यह तो पहले ही बतलाया गया है कि मानव स्वास्थ्यमें परिवर्तन करनेकी शक्तिपर ही औषधोंकी रोग-नाशक शक्ति निर्भर है (सूत्र २४—२७), तथा उन परिवर्तनोंके निरीक्षणसे ही उनकी रोग-नाशक शक्तिका परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

१०६—मैंने (म० हैनीमैनने) ही सर्वप्रथम इस विधानका उद्घाटन किया कि औषधोंके सदृश प्रयोगसे ही[2] मानव व्याधियोंका

१—यद्यपि औषधोंकी रोग-नाशक शक्तिको निश्चय करनेके लिये एकमात्र नैसर्गिक एवं परम आवश्यक उपाय यही है कि उनका प्रयोग स्वस्थ व्यक्तियोंपर किया जावे, और निरीक्षण किया जावे कि प्रत्येक औषधके प्रभावसे मानव स्वास्थ्यमें कैसा परिवर्तन होता है, कैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं, और उसमें कैसी दुर्व्यवस्था हो जाती है, तथापि गत २५ शताब्दियोंमें, अमर महात्मा एलब्रेक वान हालरके (Albrecht Von Haller) अतिरिक्त किसी चिकित्सकको यह बात नहीं सूझी। मेरे (म० हैनीमैनके) अतिरिक्त केवल उन्होंने इसका महत्त्व समझा और इसकी चर्चा उन्होंने अपने फार्माकोपिया हालवर्ट (Pharmacopia Halvert) नामक ग्रन्थकी भूमिकामें की है।

२—प्राकृतिक रोगोंका नाश करनेके लिये सदृश विधानके अतिरिक्त कोई दूसरा उत्तम और निश्चित साधन उस प्रकार नहीं हो सकता, जैसे

नाश निश्चित रूपसे हो सकता है। इस महान सत्यमें मानवताका परम कल्याण निहित है। मुझे इस परम सत्यका पूर्ण निश्चय है, तथा इसपर मेरा अडिग विश्वास है। इसमें मेरी पूर्ण निष्ठा है। इसी कारण मैंने दृढतापूर्वका इसका अनुसरण किया।

११०—कई बार स्वस्थ व्यक्तियोंने भूलसे ऐसे पदार्थोंको खा लिया जो विष सिद्ध हुए। कई बार उनका प्रयोग जान बूझकर आत्महत्याके निमित्त किया गया, अथवा दूसरे व्यक्तिकी हत्याके निमित्त भी किया गया। कभी अन्य कारणवश भी ऐसे पदार्थ स्वस्थ व्यक्तियोंके पेटमें प्रवेश पा गए। उनके दुष्परिणामोंको देखकर कई प्राचीन ग्रन्थकारोंने उनका वर्णन किया है। परीक्षा

दो विन्दुओंके मध्यमें सीधी रेखा एकही होती है, दूसरी कदापि नहीं हो सकती। जो यह अनुमान करता है कि सदृश विधानके अतिरिक्त अन्य विधानोंद्वारा भी रोगोंका नाश होता है, उस सदृश विधानके सिद्धान्तोंका बोधही नहीं है, उसने सदृश विधानके अनुसार सावधान होकर कभी चिकित्साही नहीं की, उसने सदृश विधानद्वारा सम्पादित रोगनाशको कभी प्रत्यक्ष नहीं किया, और न उसका विवरण ही पढ़ा। असदृश विधानकी (एलोपैथीकी) चिकित्सा कितनी निराधार होती है, तथा उसके परिणाम कितने दोषयुक्त और भयंकर होते हैं, इन बातोंपर भी उसने कभी विचार नहीं किया। जिनमें ऐसी अविचारपूर्ण उदासीनता होगी, वे ही सदृश विधानकी एकमात्र रोगनाशक कलाकी तुलना अन्य हानिकर चिकित्सा पद्धतियोंसे कर सकते हैं, अथवा उन्हें (अन्य चिकित्सा विधानोंको) सदृश विधानका परमावश्यक सहयोगी कह सकते हैं। कदाचित् मेरे अनन्य और विचारपूर्ण अनुयायीगण अर्थात् विशुद्ध सदृश विधानवादी अपनी अमोघ एवं सफल चिकित्साद्वारा ऐसे अज्ञानियोंको अधिक शिक्षा दे सकेंगे।

करनेके लिये मैंने स्वयं ऐसे कई विषोंका आस्वादन किया, तथा अनेक स्वस्थ व्यक्तियोंपर उनकी अल्पाल्प मात्राओंका प्रयोग किया, तथा उनके दुष्परिणामोंका सकलन किया। प्राचीन ग्रन्थकारोंके वर्णनोंमे तथा मेरे सकलनोंमे वहुत सादृश्य पाया जाता है।

विष-पानकी घटनाका वर्णन करनेके लिये अथवा उन शक्तिशाली पदार्थोंके दुष्परिणामोंका निदर्शन करनेके लिये ग्रन्थकारोंने ऐसी घटनाओंके विवरणोंको लिखा, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि ससारको यह विदित हो जावे कि वे पदार्थ उग्र और मारक विष हैं, अत एव कोई उनका प्रयोग न करे। कभी-कभी ऐसे वर्णन इस बातको बतलानेके लिये किए गए कि ऐसी दुर्घटनामे किस बुद्धिमत्तासे औषधप्रयोगद्वारा उन्होंने विषका निवारण किया और दुर्घटना ग्रस्त व्यक्तिको क्रमश पुन स्वस्थ कर दिया। कोई-कोई ऐसे वर्णन तो उस परिस्थितिके हैं जब कि उन पदार्थोंका प्रयग औषधरूपमे किया गया, परन्तु रोगी उनके कारण मर गया। तब वे पदार्थ मारक विष घोषित कर दिए गए। केवल अपना मुखमार्जन करनेके अभिप्रायसे उन पदार्थों के दुष्परिणामोंका भी वर्णन कर दिया गया।

ऐसे निरीक्षकोंको स्वप्नमे भी यह अनुमान न हुआ होगा कि जिन लक्षणोंका वर्णन करके,वेउन पदार्थोंको हानिकारक और मारक विष सिद्ध कर रहे हैं, वे ही लक्षण उन पदार्थोंकी उस शक्तिको उद्घाटित करेंगे जिससे वैसे ही लक्षण-सपन्न प्राकृतिक रोगोंका नाश करनेके लिये उन पदार्थोंका उपयोग हो सकता है। उनके ध्यानमे यह कभी नहीं आया कि उन पदार्थोंकी परिवर्तन कारी एव रोग-जनक शक्तियोंसे ही उनकी सदृश रोग विनाशकारी शक्तियोंका परिचय होता है। वे कभी ऐसा नहीं विचार सके कि स्वस्थ व्यक्तियोंके स्वास्थ्यमे पदार्थोंसे जो परिवर्तन हो सकते हैं, उनका

(परिवर्तनोंका) निरीक्षण ही उन पदार्थोंकी औपचारिक शक्तिको निश्चय करनेका एकमात्र साधन है। कारण कि औपधियोंकी विशुद्ध रोगनाशक शक्तियोंका ज्ञान अटकल और अनुमानसे नहीं प्राप्त हो सकता। इनके तात्त्विक विश्लेषणसे और उनके मिश्रणों को रोगियोंपर प्रयोग करके भी हम उनकी रोगनाशक शक्तियों-को नहीं जान सकते।

उन ग्रन्थ कर्ताओंको कभी यह सदेह भी नहीं हुआ कि उनके द्वारा लिखे गए औपधजन्य रोगोंके इतिहासोंसे ही वस्तुत विशुद्ध भेपज-लक्षण समहकी नीव डाली जावेगी, कारण कि अवतकके भेपज लक्षण-समह निराधार अनुमानोंके और कल्पनाओंके ही समह तो थे। सच पछिये तो अवतक भेपज-लक्षण-समह था ही नहीं।

१११—पूर्व ग्रन्थकारोंने विपोंके परिणामोंका उल्लेख यद्यपि औपचारिक उद्देश्यसे कभी नहीं किया, तथापि परीक्षण और निरीक्षण करके औपधोंके विशुद्ध परिणामोंका मैंने जो सकलन किया है वह उनके विवरणोंसे मिलता है। वे विवरण भी अन्य पूर्व लेखकोंके उसी परिस्थितिमें किए गए वर्णनोंसे, सर्वथा, आपस-में एक दूसरेसे मिलते हैं। इससे हमे पूर्ण निश्चय हो जाना चाहिए कि औपधोंकी क्रियासे स्वस्थ मानव-शरीरमे जो दूषित परिवर्तन होते हैं वे अपरिवर्तनीय, सनातन, प्राकृतिक नियमोंके अनुसार ही होते हैं, और उन्हीं नियमोंके कारण औपध अपनी अपनी विचि त्रताके अनुरूप ही निश्चित रोगलक्षणोंको उत्पन्न कर सकती हैं।

११२—पुराने विधिपत्रोंकी (नुसखोंकी) भयकर परिणाम कारी औपधोंकी बडी-बडी मात्राओंसे जो दुर्घटनाएँ हुई हैं, उन-पर विचार करनेसे पता चलता है कि दुर्घटनाओंके अन्तिम लक्षण प्रारभिक लक्षणोंके ठीक विपरीत हो जाते हैं, व (अन्तिम) लक्षण औपधकी प्राथमिक क्रियाजन्य लक्षणोंसे विपरीत होते हैं,

अर्थात्, जैव शक्तिपर औषधकी प्राथमिक क्रियासे (सूत्र ६३) जो लक्षण प्रकट हुए उनके विपरीत होते हैं, तथा वे (अन्तिम) लक्षण औषध-क्रियासे नहीं, वरन् औषध-क्रियाके विरुद्ध जैव शक्तिकी प्रतिक्रियासे उत्पन्न होते हैं (सूत्र ६२—६७)। परन्तु अल्प मात्रामें उन औषधोंका जो प्रयोग स्वस्थ व्यक्तियोंपर परीक्षार्थ किया जाता है, उसमें इस प्रकारकी प्रतिक्रियाका कदाचित् ही कोई चिह्न प्रकट होता है। अल्पाल्प मात्रामें प्रयोग करनेसे तो, प्रतिक्रिया कभी होती ही नहीं। सदृश विधानात्मक औषधकी जो रोग-नाशकारी क्रिया होती है, उसके विरुद्ध तो, जैव शक्ति उतनी ही प्रतिक्रिया करती है जितनीसे रोगी पुनः स्वस्थ हो जाता है (सूत्र ६७)।

११३—मादक औषधियाँ इस नियमके अपवाद हैं। उनकी प्राथमिक क्रियासे अनुभव-शक्तिका तथा ज्ञानेन्द्रियोंकी शक्तियोंका लोप हो जाता है, और कभी-कभी उत्तेजना-शक्तिका भी ह्रास हो जाता है। अतएव स्वस्थ व्यक्तियोंपर किये गए अल्प मात्राके परीक्षात्मक प्रयोगोंसे भी जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, उससे अनुभव और उत्तेजनाकी वृद्धि हो जाती है।

११४—मादक औषधोंके अतिरिक्त अन्य औषधोंकी अल्प मात्राके परीक्षणात्मक प्रयोगसे स्वस्थ मानव-शरीरमें केवल प्राथमिक क्रिया होती है। उससे केवल वे ही लक्षण प्रकट होते हैं जिनके द्वारा औषध मानव-स्वास्थ्यको दुर्व्यवस्थित करके अल्प अथवा दीर्घ काल स्थायी रोग उत्पन्न करती है।

औषधोंकी पर्यायक्रमिक क्रियाएँ।

११५—किसी-किसी औषधकी प्राथमिक क्रियामें कतिपय ऐसे लक्षण भी प्रकट होते हैं जो पहले अथवा पीछे होनेवाले

यद्यपि औषधोंमें प्रत्येक व्यक्तिको समान रूपसे प्रभावित करने की शक्ति अवश्य होती है, तथापि उनके कारण स्पष्टतया दुर्व्यवस्थित हो जानेकी प्रवृत्ति कतिपय स्वस्थ व्यक्तियोंमें ही पाई जाती है। वैयक्तिक विशेषतायुक्त व्यक्तियोंमें औषध जिन कृत्रिम रोगलक्षणोंको उत्पन्न कर सकती है, उनके सदृश लक्षणोंसे युक्त सब रोगियोंको रोगमुक्त कर देनेमें वे सफल हो जाती है। इस प्रकार, यही सिद्ध होता है कि औषध प्रत्येक स्वस्थ व्यक्तिपर समान रूपेण प्रभाव करती है।

प्रत्येक औषधकी क्रिया प्रत्येक अन्य औषधकी क्रियासे भिन्न होती है।

११८—प्रत्येक औषध मानव शरीरपर विशेष प्रकारकी क्रिया करती है। कोई दूसरी तथा भिन्न प्रकारकी औषध सर्वथा उसी प्रकारकी क्रिया नहीं कर सकती।

११९—जिस प्रकार प्रत्येक वनस्पति अपने रूपमें, उत्पत्ति और विकासमें, एवं स्वाद और गंधमें अपने वर्ग और जातिकी अन्य वनस्पतियोंसे पृथक् होती है, जिस प्रकार प्रत्येक धातु और क्षार अपने बाहरी और भीतरी रूप एवं तात्त्विक गुणोंके कारण अन्य धातुओं और क्षारोंसे पृथक् होते हैं, तथा उनमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं हो सकता, उसी प्रकार उन सबके रोग-जनक, फलतः रोग-नाशक, परिणाम एक दूसरेके रोग-जनक एवं रोग-नाशक परिणामोंसे सर्वथा पृथक् होते हैं[1]। प्रत्येक पदार्थ

१—प्रत्येक पदार्थका मानव शरीरपर क्या परिणाम होता है इसका जिसे पूर्ण ज्ञान होता है, तथा प्रत्येक पदार्थके परिणामोंमें क्या पार्थक्य है

अत एव, प्रत्येक औषधके मुख्य परिणामोंके विशेषत्वको निश्चय करनेके लिये उसका सावधान परीक्षण करना चाहिए।

१२०—मानव-स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य तथा जीवन और मरण

अत एव, अब किसी चिकित्सकको रोगनाश करनेके लिये, परीक्षणात्मक प्रयोगोंद्वारा परिणामोंका ज्ञान प्राप्त किये बिना किसी औषधका प्रयोग न करना चाहिए। अबसे पहले चिकित्सक इस प्रकारके ज्ञानकी अवज्ञा करते रहे। भविष्यम कोई इस बातपर विश्वास न करेगा कि पूर्व कालम, रोगोंकी चिकित्सा करनेके लिये, चिकित्सक नेत्र मूँदकर ऐसी औषधोंका प्रयोग करते थे, जिनके परिणामोंसे वे परिचित नहीं थे, तथा जिनका कभी इस दृष्टिसे परीक्षण नहीं किया गया था कि मानव-स्वास्थ्यपर उनके विविध, विशुद्ध एवं महत्त्वपूर्ण परिणाम क्या होते हैं। इसके अतिरिक्त वे ऐसी अनेक अज्ञात एवं परस्पर अति पृथक् औषधोंको एकसाथ मिलाकर प्रयोग करते थे, तथा परिणामके लिये रोगीको भाग्य भरोसे छोड़ देते थे। इस प्रक्रियाकी तुलना उस उन्मत्त व्यक्तिके कार्यसे की जा सकती है, जो दैवात् किसी शिल्पीके कार्यालयमें प्रवेश पा जाता है, उसने विभिन्न उपकरणोंमेंसे कुछको उठा लेता है, और यद्यपि उनके प्रयोगका उसे किंचित् भी ज्ञान नहीं होता, तथापि कार्यालयमें वर्तमान शिल्पकलाकी वस्तुओंपर उनका प्रयोग करता है। कहना न होगा कि, उस उन्मत्त व्यक्तिके इस प्रकार बुद्धिरहित एवं ज्ञानहीन प्रयोगोंसे वे कलात्मक वस्तुएँ बिगड़ ही नहीं जायेंगी, वरन् उनका पूर्ण संहार ही हो जायगा।

[यह विश्व महान् शिल्पी ईश्वरका कार्यालय ही तो है, और प्रत्येक व्यक्ति उसकी महती कलात्मक वस्तु है। अज्ञात-परिणाम औषध वे उपकरण हैं जिनका प्रयोग असदृश विधानके अनुसार मानवोंपर किया जाता है; और इस प्रकारके बुद्धि रहित एवं तर्कविहीन प्रयोगोंका परिणाम—जैसा हम नित्य देखते ही हैं—पूर्ण संहार ही तो होता है।]

औषधोंपर निर्भर हैं। अत एव, प्रत्येक औषधके (एक-दूसरेसे) पार्थक्यका निर्भ्रान्त ज्ञान पूर्ण सतर्कतापूर्वक प्राप्त कर लेना चाहिए। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये स्वस्थ व्यक्तियोंपर विशुद्ध और सावधान प्रयोग करके औषधोंका परीक्षण करना चाहिए। इससे औषधोंके वास्तविक परिणामों और सामर्थ्योंका निश्चयात्मक बोध हो जाता है, और रोगोंमें उनका भ्रमरहित प्रयोग किया जा सकता है। सटीक औषधके निर्वाचनसे ही संसारका सर्वश्रेष्ठ वरदान—शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य—शीघ्र और स्थायी रूपेण पुनः प्राप्त कराया जा सकता है।

स्वस्थ व्यक्तियोंपर औषध-परीक्षण करनेकी विधि।

१२१—स्वस्थ शरीरयन्त्रमें किस औषधका क्या परिणाम होता है यह निश्चय करनेके लिये, जब औषधोंका परीक्षण किया जावे, तब यह ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि, उग्र विष कहलाने वाले पदार्थों की अल्प मात्राएँ भी हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियोंके भी स्वास्थ्यमें परिवर्तन उत्पन्न कर सकती हैं। जिन औषधोंकी सामर्थ्य मृदुतर होती है, परीक्षणके लिये उनका प्रयोग कुछ अधिक मात्रामें करना चाहिए। परन्तु जिन औषधोंकी सामर्थ्य अत्यन्त कोमल होती है, उनका परीक्षण ऐसे व्यक्तियोंपर करना चाहिए जिन्हें कोई रोग न हो और जो कोमल-प्रकृति, उत्तेजनाशील एवं असहिष्णु अथवा अनुभूतिपूर्ण हों।

१२२—सम्पूर्ण चिकित्साकलाकी यथार्थता और समस्त भावी मानव-सन्ततिका सौख्य औषध-परीक्षणोंपर निर्भर है। अत एव, परीक्षणके लिये ऐसी औषधका ही प्रयोग करना चाहिए जो पूर्णतया परिचित हो और जिसकी विशुद्धता, सत्यता एवं शक्तिके सम्बन्धमें किञ्चित् भी सन्देह न हो।

१२३—परीक्षणके लिये प्रत्येक औषध शुद्ध और अमिश्रित होनी चाहिए। देशी वनस्पतियोंके स्व-रसका अथवा शुद्ध सुरासार मिश्रित रसका प्रयोग करना चाहिए, जिससे उनका रस बिगड़ न जावे। वैदेशिक वनस्पतियोंका चूर्ण अथवा उनके टटके रसमें शुद्ध जल मिलाकर प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रयोग करनेके पहले क्षार और गोंदको जलमें गला लेना चाहिए जो वनस्पति शुष्क रूपमें ही उपलब्ध होती हैं, उनकी शक्ति स्वभावतः क्षीण हो जाती है। ऐसी औषधियोंके छोटे-छोटे टुकड़े करके क्वाथ बना लेना चाहिए। औषधोंके टुकड़ोंपर खौलता हुआ जल छोड़नेसे क्वाथ बन जाता है। क्वाथमें औषधके समस्त गुण आ जाते हैं। क्वाथका प्रयोग ठंढा हो जानेके पूर्व ही करना चाहिए, कारण कि, यदि क्वाथमें सुरासार न मिलाया जावे, तो ठंढा होते ही उसमें विकृति उत्पन्न हो जाती है और उसके सब औषधगुण नष्ट हो जाते हैं।

१२४—केवल एक एक औषधसे परीक्षणात्मक प्रयोग किए जाते हैं। औषध भी अत्यन्त विशुद्ध और अमिश्रित होनी चाहिए। प्रयोगके दिन, अथवा जबतक औषधके परिणामोंका निरीक्षण करना हो, तबतक किसी ऐसी वस्तुका सेवन नहीं होना चाहिए जिसमें औषध गुण हों।

१२५—औषध-परीक्षणके समय आहारका कड़ा नियम होना चाहिए। जहाँ तक सभव हो सात्विक, पौष्टिक तथा उपस्कर रहित (बिना मसालेका) भोजन करना चाहिए। हरे शाक,[१] कन्द-मूल चटनी आदि वर्ज्य हैं, कारण कि अत्यन्त सावधानीसे बनाए जाने पर भी उनमें विकारोत्पादक औषध-गुण आ ही जाते हैं। पेय

१—कोमल मटरकी फली तथा उबाले आलू लिये जा सकते हैं

वही होना चाहिए जो नित्य पिया जाता हो, परन्तु वह जितना कम मादक हो उतना ही उत्तम होता है[1]।

१२६—औषध-परीक्षणके माध्यमको—उस व्यक्तिको जिस-पर औषध-परीक्षण करना है—विश्वसनीय एव विवेकशील होना चाहिए। औषध-परीक्षण कालमें उसे किसी प्रकारका मानसिक अथवा शारीरिक श्रम नहीं करना चाहिए, तथा काम क्रोधादिके वेगोंसे भी बचे रहना चाहिए। उस समय माध्यमके सम्मुख कोई चित्ताकर्षक व्यापार नहीं उपस्थित करना चाहिए। सावधान हो कर उसे आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि आत्म निरीक्षण करते समय उसे किसी प्रकारकी बाधा न हो। माध्यमका शरीर स्वस्थ और बुद्धि ऐसी होनी चाहिए कि वह अपनी अनुभूतियोंका वर्णन ठीक-ठाक कर सके।

१२७—औषधोंका परीक्षण पुरुषों और नारियों दोनोंपर करना चाहिए, जिससे यह पता चल जावे कि जननेन्द्रियसबधी क्या-क्या परिवर्तन उनस उत्पन्न हो सकते हैं।

१२८—अत्यन्त आधुनिक निरीक्षणोंसे यह सिद्ध हो गया है कि औषधोंके विचित्र परिणामोंका परीक्षण करनेके लिये यदि उनका प्रयोग उसी रूपमें किया जाता है जिसमे वे उत्पन्न होती हैं अथवा पायी जाती हैं, तो उनकी सब शक्तियाँ जो उनमें छिपी रहती हैं प्रकट नहीं होतीं। परन्तु यदि औषधोंको विधिवत् घोंट (पीस) कर अथवा गलाकर शक्तिकृत बना लिया जाता है, तो

१—औषध-परीक्षण ऐसे ही व्यक्तियोंपर करना चाहिए जो मदिरा, चाय, काफी आदिके व्यसनी न हों, अथवा जिन्होंने परीक्षण-कालके बहुत पहले ऐसी वस्तुओंके व्यसनको छोड़ दिया हो। ऐसी वस्तुओंमेंसे कुछ तो मादक होती है और कुछमें औषध-गुण होते हैं, अत वे त्याज्य हैं।

उनकी प्रसुप्त और छिपी हुई शक्तियोंका विकास हो जाता है तब वे क्रियाशील होकर ऐसे परिणामोंको उत्पन्न करती हैं जिनका कभी अनुमान नहीं किया जा सकता। शक्तिहीन मानी जानेवाली औषधोंके परीक्षणके लिये भी यही विधि सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। अत एव औषध परीक्षणके लिये यह विधि निश्चित कर ली गई है कि परीक्षणीय औषधकी ३० वीं शक्तिकी ४-६ अणुवटिकाओं को थोडे पानीमें गलाकर और भली भांति मिलाकर, माध्यमको कुछ दिन नित्य पिलाना चाहिए।

१२९—यदि उक्त मात्राका परिणाम अत्यन्त अल्प अथवा नगण्य होवे, तो जब तक परिणाम स्पष्ट और प्रबल न हो जावे तथा माध्यमके स्वास्थ्यमें परिवर्तन दृष्टिगोचर न हो जावे, तब तक कुछ अणुवटिकाएँ मिलाकर मात्राको नित्य बढाना चाहिए। कारण यह है कि औषधका प्रभाव सब व्यक्तियोंपर एक समान नहीं होता, प्रत्युत औषधके प्रभाव क्षेत्रमें अनेक विचित्रतायें होती हैं। कभी कभी प्रबल शक्तिशाली औषधकी सामान्य मात्रासे दुर्बल व्यक्तिमें कोई परिवर्तन नहीं होता, तथा वही व्यक्ति साधारण औषधकी सामान्य मात्रासे अधिक प्रभावित हो जाता है। इसी प्रकार कई हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति सामान्य औषधसे अधिक प्रभावित हो जाते हैं तथा कडीसे कडी औषधका उनपर नगण्य परिणाम होता है। यह पहलेसे नहीं कहा जा सकता कि किस औषधका प्रभाव किसपर कैसा होगा। अत एव परीक्षण अल्प मात्रासे ही प्रारंभ करना चाहिए, हाँ आवश्यकतानुसार उसे नित्य बढाया जा सकता है।

१३०—यदि परीक्षणके प्रारंभमें ही पर्याप्त बडी मात्राका प्रयोग किया जावे, तो यह विशेष लाभ होता है कि परीक्षकको लक्षणोंका क्रम विदित हो जाता है। और यह लिपिबद्ध करना

सरल हो जाता है कि कौन लक्षण कब प्रकट होता है। इस प्रकार औषधके प्राथमिक एवं पर्यायक्रमिक लक्षणोंका क्रम भी असंदिग्ध रूपेण विदित हो जाता है। अत एव औषधकी प्रतिभाको जाननेमे भी बडी सहायता हो जाती है। यदि माध्यमकी अनुभव शक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण हो, तथा यदि वह अपनी अनुभूतियोंके सम्बन्धमें बहुत सतर्क रहे, तो औषधकी अति सामान्य मात्रा भी परीक्षाके लिये पर्याप्त हो जाती है। कई परीक्षणोंकी तुलना करनेसे ही औषधके क्रिया-कालका निश्चय किया जा सकता है।

१३ —तथापि, यदि किसी बातको निश्चय करनेके लिये एकही माध्यमको वही औषध नित्य कुछ दिनतक, प्रतिदिन मात्रा बढ़ा-बढाकर दी जाती है, तो वह औषध जितने विकार उत्पन्न कर सकती है उन सबका ज्ञान तो अवश्य हो जाता है, परन्तु उन विकारोंके उत्पन्न होनेका क्रम निश्चित नहीं हो सकता। पूर्वकी मात्रासे उत्पन्न हुए कोई लक्षण दूसरी अथवा तीसरी मात्राके प्रयोगसे नष्ट भी हो जाते हैं। कभी-कभी पहली मात्रासे उत्पन्न हुए किसी लक्षणके स्थानमे दूसरी अथवा तीसरी मात्रा उसके विपरीत लक्षणको उत्पन्न कर देती है। ऐसे लक्षणोंको कोष्टकबद्ध कर देना चाहिए, कारण कि उनके विषयमे यह संदेह रहता है कि वे शरीरयन्त्रकी प्रतिक्रियासे तो नहीं उत्पन्न हुए, अथवा वे औषधके ही पर्यायक्रमिक लक्षण तो नहीं हैं। इस सदेहका निराकरण पुन. विशुद्ध परीक्षणोंद्वारा किया जा सकता है।

१३२—परन्तु यदि किसी औषधके, विशेषकर मृदुशक्तिकी औषधके, लक्षणोंको जानना ही उद्देश्य हो, और उनके क्रमको अथवा औषधके क्रियाकालको जाननेका कोई विचार न हो, तो उत्तम विधि यही है कि उस औषधको नित्यप्रति मात्रा बढाबढ़ाकर कुछ दिन लगातार देना चाहिए। इस प्रकार यदि अनु-

भूतिशील व्यक्तियोंपर परीक्षण किया जावे, तो अत्यन्त मृदु स्वभावकी अज्ञात औषधके भी लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

१३३—जब औषधसे किसी प्रकारकी अनुभूति होने लगे, तब उस अनुभूतिकी (लक्षणकी) विशेषताओंको निश्चित करनेके लिये, जब तक वह अनुभूति होती रहे, शारीरिक स्थितिको कई प्रकारसे परिवर्तित करके यह अनुभव करना नितान्त आवश्यक है कि, किस परिस्थितिका उस लक्षणपर क्या प्रभाव होता है, यथा—यह निरीक्षण करना चाहिए कि शरीरके उस भागको जिसमें उक्त अनुभूति होती हो हिलाने डुलानेसे, घरमें घूमनेसे, अथवा बाहर मुक्त वायुमें घूमनेसे, खड़े होनेसे, बैठनेसे, अथवा लेटनेसे, क्या वह लक्षण बढ जाता है, घट जाता है, अथवा नष्ट हो जाता है, तथा शरीरकी जिस परिस्थितिमें पहले पहल उस लक्षणका प्रादुर्भाव हुआ था, उसी स्थितिमें पुन हो जानेसे वह लक्षण पुन तो प्रकट नहीं हो जाता। यह भी देखना चाहिए कि खानेसे, पीनेसे, बोलनेसे, खाँसनेसे, छींकनेसे, अथवा अन्य शारीरिक क्रियासे उस लक्षणमें कोई परिवर्तन होता है कि नहीं। इसपर भी ध्यान देना चाहिए कि वह लक्षण किस समय-दिनके अथवा रातके किस प्रहरमें-विशेष उग्र हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक लक्षणसबन्धी विशेषताओंको स्पष्ट कर लेना चाहिए।

१३४—समस्त बाह्य हेतुओंमें तथा विशेषत औषधोंमें स्वभावत ऐसी सामर्थ्य होती है कि वे जीवित शरीर-यन्त्रके स्वास्थ्यमें अपने-अपने अनुरूप परिवर्तन उत्पन्न कर सकती हैं। परन्तु औषधके सब विशेष लक्षण एक ही व्यक्तिमें नहीं प्रकट हो जाते और न एक ही परीक्षणमें प्रकट हो जाते हैं। कुछ लक्षण किसी समय किसी व्यक्तिमें प्रकट होते हैं, तो दूसरे लक्षण दूसरी

अथवा तीसरी वारकी परीक्षामें प्रकट होते हैं। किसी अन्य व्यक्तिमें उसी औषधके अन्य लक्षण प्रकट हो जाते हैं। परन्तु प्राय यह क्रम पाया जाता है कि जो लक्षण दूसरे, छठें अथवा नवें आदि व्यक्तियोंमें प्रकट होते हैं वे ही चौथे, आठवें अथवा दशवें आदि व्यक्तियोंमें भी प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी होता है कि जो लक्षण प्रथम वार जिस समय प्रकट होते हैं, वे दूसरी वार उसी समय नहीं भी प्रकट होते।

१३५—विभिन्न प्रकृतिके, परीक्षणयोग्य अनेक नरों और नारियोंपर कई वार परीक्षण करनेसे ही किसी औषधके वे सम्पूर्ण कृत्रिम रोगलक्षण जाने जा सकते हैं जिन्हें उत्पन्न करनेमें वह समर्थ होती है। जब नये माध्यमोंको उन लक्षणोंके अतिरिक्त किसी नवीन लक्षणकी अनुभूति न हो, और प्रायः उन्हीं लक्षणोंका अनुभव हो, जिनका पूर्व माध्यमोंको हुआ था, तब ही यह विश्वास हो सकता है कि उस औषधका पूर्ण परीक्षण हो चुका, और उसके वे समस्त कृत्रिमरोग लक्षण प्रकट हो चुके जिन्हें वह उत्पन्न कर सकती है, अर्थात् उस औषधमें मानव-स्वास्थ्यको परिवर्तित करनेकी जो सामर्थ्य थी वह सब प्रदर्शित हो गई।

१३६—यद्यपि, जैसा पहले बतलाया गया है, स्वस्थ व्यक्तियोंपर परीक्षात्मक प्रयोगद्वारा औषधके वे सब लक्षण जिन्हें वह उत्पन्न कर सकती है एक ही व्यक्तिमें नहीं प्रकट हो जाते, किन्तु भिन्न-भिन्न शारीरिक और मानसिक प्रकृतिके व्यक्तियोंपर प्रयोग करनेसे ही उन सब लक्षणोंका प्रादुर्भाव होता है, तथापि सनातन अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमके अनुसार, प्रत्येक व्यक्तिमें अपने संपूर्ण लक्षणोंको उत्पन्न करनेकी प्रवृत्ति औषधोंमें अवश्य होती है (सूत्र ११७)। जब औषधका प्रयोग ऐसे रोगीपर किया जाता है जिसके लक्षण औषध-लक्षणके अत्यन्त सदृश होते हैं,

तब, औषध, अपनी उक्त प्रवृत्तिके कारण, रोगीमें अपने सपूर्ण लक्षणोंको उत्पन्न करती है। ऐसे रोगीमे औषध उन लक्षणोंको भी प्रकट करती है जो परीक्षाके समय कदाचित् ही किसी स्वस्थ व्यक्तिमें उत्पन्न होते हैं। अल्पाल्प मात्रामे प्रयुक्त होनेपर भी, औषध, सदृशविधानके अनुसार निर्वाचित होनेके कारण, रोगी में, उसके प्राकृतिक रोगके अत्यन्त सदृश रोगदशाको शान्तिपूर्वक उत्पन्न कर देती है, फलत वह रोगी शीघ्र ही स्थायी रूपेण रोग-मुक्त हो जाता है।

१३७—निरीक्षणकी सुविधाके निमित्त, परिक्षणके लिये ऐसा व्यक्ति चुनना चाहिए जो सत्यप्रिय, सर्व प्रकारसे संयमशील एव कोमल प्रकृति हो, तथा अपनी अनुभूतियोंपर पूरा ध्यान लगा सके। ऐसे माध्यममे किसी सीमा तक औषधकी साधारणसे साधारण मात्राके प्रयोगसे प्राथमिक लक्षणोंका अधिकसे अधिक विकास होता है, और केवल ज्ञातव्य लक्षणोंका ही विकास होता है, तथा उनमे गौण लक्षणोंका, अर्थात् जैव शक्तिकी प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न हुए लक्षणोंका समिश्रण भी नहीं होता। परन्तु यदि बहुत बडी मात्रामे औषधका प्रयोग किया जाता है, तो प्राथमिक लक्षणोंके साथ-साथ, न केवल गौण लक्षण भी बीच बीचमे प्रकट होते हैं, वरन् प्राथमिक लक्षणोंका प्राकट्य इतनी प्रचण्डता, शीघ्रता एव विश्रृखलता पूर्वक होता है, कि उनके निरीक्षणसे कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता। जिसके हृदयमें मानवताके प्रति कुछ भी आदरका भाव है तथा जो निम्नसे निम्न कोटिके मानवको बन्धु मानता है वह इस प्रकारके औषध-प्रयोगसे सर्वदा विरत रहेगा।

१३८—उत्तम और विशुद्ध परीक्षणके नितान्त आवश्यक नियमोंका वर्णन सूत्र १२४-१२७ मे किया गया है। उनके अनु सार परीक्षण करनेपर औषधके क्रियाकालमे माध्यमको जो भी कष्ट, घटनाएँ, अथवा उसके स्वास्थ्यमे परिवर्तन हों वे सब

औषधके कारण ही होते हैं। यद्यपि बहुत समय पहले भी माध्यमके स्वास्थ्यमें वैसे ही कष्ट, घटनाएँ, और स्वास्थ्यपरिवर्तन स्वयमेव हो चुके हों, तो भी परीक्षणकालमें उत्पन्न होनेके कारण उन्हें उस औषधके ही विशेष लक्षण मानना चाहिए, तथा इसी प्रकार उन्हें लिपिबद्ध भी करना चाहिए। औषध-परीक्षणके समय उन लक्षणोंका पुनः प्रकट होना यही सिद्ध करता है कि, प्रकृतिकी विशेषताके कारण माध्यममें ऐसे लक्षणोंके उत्पन्न होनेकी प्रवृत्ति ही है। अत एव, माध्यममें प्रकट हुए लक्षण औषधके ही परिणाम हैं। जब कि उसके समस्त शरीरयन्त्रका स्वास्थ्य परीक्षणकालमें औषधसे प्रभावित रहता है, तब लक्षणोंका स्वयमेव उत्पन्न होना कदापि संभव नहीं। वे निःसन्देह औषधके ही परिणाम हो सकते हैं।

१३६—जब परीक्षण करनेके लिये चिकित्सक औषधका प्रयोग अपने ऊपर न करें, किन्तु दूसरे व्यक्तिको उसे खिलावें, तब उस व्यक्तिका कर्तव्य है कि जिस समय कोई अनुभूति, कष्ट, घटना, एवं उसके स्वास्थ्यमें कोई परिवर्तन हो, उसी समय उसे स्पष्ट रूपसे लेखबद्ध करले। प्रत्येक लक्षणके संबन्धमें यह भी लिखता जावे कि औषध लेनेके पश्चात् वह किस समय हुआ और कब तक होता रहा। परीक्षण समाप्त होते ही, उस विवरणको माध्यमके सम्मुख ही चिकित्सकको देख लेना चाहिए। प्रत्येक लक्षणके वर्णनका यथार्थ स्पष्टीकरण करनेके लिये माध्यमसे उसी समय आवश्यक प्रश्न कर लेना चाहिए। कारण कि तब तक उसे सब वृत्तका ठीक स्मरण रह सकता है। माध्यमके वर्णनको स्पष्ट करनेवाली जो बात इस प्रकार विदित हो उसे यथास्थान लिखकर, अथवा उसके कथनानुसार[1] घटा-बढ़ाकर विवरणको संशोधित कर लेना चाहिए।

१—जो व्यक्ति ऐसे परीक्षणोंके परिणाम चिकित्साजगतको बताते हैं

१४०—यदि माध्यम लिख न सकता हो, तो उसे प्रतिदिन चिकित्सक को बतलाना चाहिए कि उसको क्या क्या अनुभूतियाँ और कष्टादि हुए एव कैसे हुए। इस सबन्ध में जो प्रामाणिक लेख लिपिबद्ध किया जावे वह ठीक वही होना चाहिए जो माध्यम स्वयमेव कहे। कोई बात अनुमानसे नहीं लिखनी चाहिए, तथा जहाँ तक सभव हो, कोई ऐसी बात भी लिपिमें न लाई जावे जिसे माध्यम सुझाव-युक्त प्रश्नके उत्तरमें कहे। प्राकृतिक रोग और उनके लक्षणोंका अनुसधान करनेके लिये जिन नियमोंका वर्णन सूत्र ८४ से ६६ में किया गया है उन्हींके अनुसार सावधानीसे प्रत्येक बातका अनुसधान करके, निश्चय कर लेना चाहिए।

स्वस्थ चिकित्सक स्वयं अपने ऊपर जो औषध-परीक्षण करते हैं वे परीक्षण उत्तम होते है।

१४१—इस बातको जाननेके लिये ही औषध-परीक्षण किया जाता है कि प्रत्येक अमिश्रित औषधके विशुद्धपरिणामसे मानव-स्वास्थ्यमें क्या परिवर्तन हो सकता है, तथा प्रत्येक औषध स्वस्थ व्यक्तिमें किन कृत्रिम रोगों और लक्षणोंको उत्पन्न कर सकती है। अत यदि स्वस्थ, पक्षपातरहित और अनुभूतियुक्त चिकित्सक औषधपरीक्षण-सबन्धी नियमोंका सावधानीसे पालन करते हुए स्वय अपने ऊपर औषधका परीक्षण करें, तो वे परीक्षण सर्वोत्तम होते हैं। कारण यह है कि जिन बातोंका अनुभव

वह माध्यमकी विश्वसनीयता एव उसके कथनोंका उत्तरदायी हो जाता है। यह उचित भी है, क्योंकि उन्हींपर रोगपीड़ित मानव-जातिका सौख्य निर्भर है।

रोगोंमें औषधोंके विशुद्ध परिणामोंका अनुसंधान कठिन होता है।

१४७—परन्तु चिकित्साके अभिप्रायसे प्रयुक्त की गई अमिश्रित औषधके कतिपय लक्षणोंको[1] मूल व्याधिके लक्षणोंसे किस प्रकार पृथक किया जा सकता है क्योंकि मूलव्याधिके लक्षण

सकता है और अपनेसे अपनेको कभी धोखा नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करते-करते निरीक्षण करनेका पूरा अभ्यास भी हो जाता है। यह चिकित्सकके लिये महत्त्वकी बात है।

अभी चिकित्साकलाको बहुत अशोंमें रोगनाशक उपकरणोंका (औषधों का) सच्चा ज्ञान प्राप्त करना है। अपने ऊपर उनका परीक्षण करनेसे औषधोंके वास्तविक महत्व एवं मूल्यका सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतएव विश्वास है कि चिकित्सक इस कार्यको अधिक उत्साहसे करेंगे। ऐसा विचार कदापि न करना चाहिए कि परीक्षणके निमित्त खाई गई औषधसे जो सामान्य अस्वस्थता हो जाती है उससे स्वास्थ्यमें हानि हो जायगी। प्रत्युत, अनुभवसे यह सिद्ध होता है कि परीक्षात्मक प्रयोगों द्वारा औषधकी अल्पमात्रासे उत्पन्न दुष्परिणामोंका निराकरण करते-करते, जैव शक्ति अभ्यस्त और पुष्ट हो जाती है, और उसमें बाह्य प्रभावोंका निराकरण करनेकी सामर्थ्य बढ़ जाती है, चिकित्सकका स्वास्थ्य ऐसा हो जाता है कि किसी प्रकारका बाह्य प्रभाव उसे सहसा परिवर्तित नहीं कर सकता। अनुभव यही सिद्ध करता है कि इन परीक्षात्मक प्रयोगोंसे चिकित्सक अधिक हृष्ट पुष्ट हो जाता है।

१—ऐसे लक्षण जो व्याधिके भोगकालमें बहुत समय पहले प्रकट हुए हों, अथवा ऐसे लक्षण जो पहले कभी प्रकट न हुए हों, फलतः नवीन हों, औषधके ही लक्षण होते हैं।

रोगोंमें-विशेषकर चिर रोगोंमें-जैसे-के-तैसे ही बने रहते हैं। यह विषय इन्द्रियातीत विचारकलासे संबन्ध रखता है। अत एव, इसका निर्णय करना निरीक्षणकलाके पंडितोंका ही कार्य है।

स्वस्थ व्यक्तियोंपर औषधोंका परीक्षण करनेसे जो विशुद्ध परिणाम प्रकट होते हैं, उन्हींके अनुसंधानोंसे वास्तविक भेषज-लक्षण-संग्रह बनता है।

१४३—स्वस्थ व्यक्तियोंपर अनेक अमिश्रित औषधोंका परीक्षण इस प्रकार करनेसे, तथा उनसे उत्पन्न समस्त रोगतत्त्वों और लक्षणोंको यथार्थ रूपमें, सावधानीसे लिपिबद्ध कर लेनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अमुक औषध अमुक-अमुक कृत्रिम रोग उत्पन्न कर सकती है। यही संकलन वास्तविक भेषज-लक्षण-संग्रह हो जाता है; यही, अमिश्रित औषधोंकी क्रियाओंका विश्वसनीय[1], विशुद्ध एवं सच्चा संग्रह हो जाता है। यही प्रकृतिकी वह पुस्तक हो जाती है जिसमें प्रत्येक शक्तिशाली औषध-जनित, एवं सावधान निरीक्षकोंद्वारा अनुभूत, स्वास्थ्यके परिवर्तनों और

१—कुछ समयसे ऐसी प्रथा चल गई है कि अज्ञात एवं दूरस्थ व्यक्तियोंद्वारा औषधपरीक्षण पारिश्रमिक देकर कराया जाता है और उनका जो विवरण प्राप्त होता है छपवा दिया जाता है। मुझे सन्देह यह कहना पड़ता है कि इस प्रकारके कार्यका परिणाम मेरी संमतिमें अनिश्चित और संदिग्ध होता है, और उसका कुछ भी मूल्य नहीं होता। कारण यह है, कि यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है और रोगनाश करनेवाली एकमात्र चिकित्साकलाका आधार है, अत एव इसके लिये पूर्ण नैतिक सच्चता एवं विश्वसनीयता अपेक्षित होती है।

लक्षणोंका सविस्तर वर्णन रहता है। इन वर्णनोंमे उन अनेक प्राकृतिक रोगोंके रोगतत्त्वोंकी सदृश विधानात्मक प्रतिमूर्ति वर्तमान रहती है, भविष्यमे जिनका नाश इन्हीं औषधोंद्वारा किया जायगा। साराश यह है कि इस प्रकार सकलित भेषज लक्षण समहमे ऐसी कृत्रिम रोग दशाओंका वर्णन रहता है जो अपने सदृश प्राकृतिक रोग-दशाओंका निश्चित एव स्थायी विनाश करनेके लिये एकमात्र सच्चे सदृश विधानात्मक साधनका, अर्थात् विशेष रामबाण औषधका सकेत करते हैं।

१४४—ऐसे भेषज लक्षण-समहमे इस प्रकारकी किसी बातका समावेश नहीं होना चाहिए, जिसका आधार अनुमान, कथन मात्र अथवा कल्पनामात्र हो। सत्यता एव सावधानता-पूर्वक अनुसधान की गई प्रकृतिकी विशुद्ध भाषा ही उसमे रहनी चाहिए।

१४५—वास्तवमे तो, जब हमारे पास पर्याप्त बड़ी सख्यामे ऐसी औषधोंका समह हो जायगा, जिनकी मानव स्वास्थ्य परिवर्तनकारी क्रियाओंका ठीक ठीक पता चल गया है, तब ही हम असख्य प्राकृतिक रोगोंके लिये और ससारकी प्रत्येक व्याधिके लिये[1] उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषधका पता लगा सकेंगे,

---

१—अबसे ४० वर्ष पूर्व, मैंने (म० हैनिमैनने) ही पहले-पहल औषधोंके विशुद्ध परिणामोंका अनुसधान किया। यह मेरा परम महत्त्वपूर्ण कार्य था। तत्पश्चात् कतिपय युवकोंने इस कार्यमे मुझे सहायता प्रदान की। उन लोगोंने औषधोंका परीक्षण अपने उपर (स्वय) करके जो विवरण प्रस्तुत किए उनकी मैंने समालोचनात्मक दृष्टिसे परीक्षा कर ली। तदनन्तर कई दूसरे व्यक्तियोंने इस दिशामे कुछ वास्तविक कार्य किया। किन्तु जब पर्याप्त सख्यामें विश्वसनीय एव यथार्थ निरीक्षकगण सावधानीसे (स्वय) अपने ऊपर औषध-परीक्षण करके, अपने अनुभवोंद्वारा इस कार्यकी अर्थात्

अर्थात् उपयुक्त सदृश रोग-जनक औषध चुन सकेंगे। अब तक भी जितनी औषधोंके विशुद्ध परिणामोंका निश्चयात्मक ज्ञान हो गया है[1], उनमेंसे प्रत्येक शक्ति-शाली औषधकी मानव-स्वास्थ्य-परिवर्तनकारी क्रियाओंद्वारा इतने पर्याप्त और यथार्थ लक्षणों और रोगमूर्तियोंका संग्रह हो गया है, कि उन औषधोंमें हमें इस समय भी, कतिपय रोगोंको छोड शेष सब प्राकृतिक रोगोंके लिये प्राय उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषध मिल जाती हैं। उनके द्वारा निश्चित और स्थायी स्वास्थ्य-लाभ सुखपूर्वक हो जाता है, तथा प्राचीन (एलोपैथिक) चिकित्साकलाकी अपेक्षा कहीं अधिक सुगमता और निश्चयात्मकतापर्वक स्वास्थ्य-लाभ हो जाता है। एलोपैथिक चिकित्सा-विधानकी अज्ञात परिणाम एवं मिश्रित औषधोंसे तो, चिर रोग कदापि नष्ट नहीं होते, हाँ वे परिवर्तित और परिवर्धित अवश्यहो जाते हैं, इनसे आशु रोग भी शीघ्र नष्ट नहीं होते, किन्तु उनकी अवधि बढ भले ही जाती है तथा रोगीके प्राण सकट मे पड़ जाते हैं।

ॐ • ॐ

एकमात्र वास्तविक भेपज-लक्षण-संग्रहकी अभिवृद्धि कर लेंगे, तब वे बृहत् चिकित्सा-जगतमें किस रोगनाशात्मक कार्यको न कर सकेंगे। उस अवस्था-में यह चिकित्साकला गणितके सदृश निश्चयात्मक विज्ञान हो जायगा।

[1]—सूत्र १०६ की द्वितीय टिप्पणी देखिये।

चिकित्साका तृतीय अङ्ग

औषध-प्रयोग-विधि

(सूत्र १४६ से सूत्र २८५ पर्यन्त)

औषधोंका अत्यन्त उपयुक्त सदृश विधानात्मक प्रयोग वही है जो उनके विशुद्ध परिणामोंके आधारपर किया जाता है।

१४६—इस प्रकार स्वस्थ व्यक्तियोंपर परीक्षा करके जिन औषधोंके विशुद्ध परिणामोंका निश्चय कर लिया गया है, प्राकृतिक रोगोंका नाश करनेके लिये, चिकित्सकको उनका सदृश-विधानात्मक प्रयोग बुद्धिपूर्वक करना चाहिए।

जो औषध सदृश विधानके अनुसार अत्यन्त सदृश हो, वही अत्यन्त उपयुक्त होती है, वही रामवाण है।

१४७—जिन औषधोंकी मानवस्वास्थ्य-परिवर्तनकारी सामर्थ्यका अनुसधान हो गया है, उनमेसे जिस औषधके परीक्षित लक्षणोंमें, प्रस्तुत प्राकृतिक रोगका लक्षणसमुच्चय पाया जावे, उस रोगके लिये वही अत्यन्त उपयुक्त औषध एवं सुनिश्चित सदृश विधानात्मक उपचार होगा, और अवश्य होगा। प्रस्तुत रोगके लिये वही रामवाण औषध होगी।

सदृश विधानात्मक रोगमुक्तिके रहस्यकी व्याख्या।

१४८—प्राकृतिक रोगको मानव-शरीर-यन्त्रके भीतर अथवा बाहर वर्तमान कोई दूषित भौतिक पदार्थ मानना भ्रान्त धारणा है। सूत्र ११–१३। वह तो वास्तवमें विरोधी एवं अशरीरी (कल्पनागम्य) कारणका परिणाम है, और वह कारण प्रभावमात्र होता है। देखिये ११ वें सूत्रकी टिप्पणी। उससे मानव शरीर-यन्त्रमें निवास करनेवाली (कल्पनागम्य) जैव शक्तिकी स्वसंभूत ज्ञान और क्रिया दुर्व्यवस्थित हो जाती है। जैव शक्तिको वह प्रेतके

समान सताता है और उसके नियमित जीवन प्रवाहको निश्चित क्लेशों और विकारोंका केन्द्र बना देता है। इन्हीं क्लेशों और विकारोंको लक्षण कहते हैं। उक्त विरोधी कारणोंका प्रभाव इस प्रकारकी दुर्व्यवस्थाको न केवल उत्पन्न करता है किन्तु उसका पोषण भी करता रहता है।

परन्तु, जब कृत्रिम दुर्व्यवस्थाको उत्पन्न करके जैव शक्तिमें परिवर्तन कर देनेवाली सदृश विधानात्मक औषधकी अल्पाल्प मात्राका—जिसकी शक्ति स्वसदृश प्राकृतिक रोगकी शक्तिसे कहीं अधिक बलवती होनी है (सूत्र ३३, २७६)—प्रयोग किया जाता है, तब जैव शक्ति अधिक बलशाली कृत्रिम रोगसे आक्रान्त हो जाती है और उक्त विरोधी रोगजनक कारणके प्रभावसे, अर्थात् मूलरोगसे, विमुक्त हो जाती है। उसी समयसे जैव शक्तिके लिये मूल रोगका अस्तित्व ही नहीं रह जाता, अर्थात् वह नष्ट हो जाता है। सद्य उत्पन्न हुआ आशु रोग सदृश विधानात्मक औषधके समुचित प्रयोगसे कुछ ही घण्टोंमें समूल नष्ट हो जाता है। उसी औषधकी, अथवा सावधानीसे चुनी गई¹ अन्य अधिक सदृश

१—परन्तु प्रत्येक रोग-दशाके लिये अत्यन्त उपयुक्त औषध ढूँढना और उसका चुनाव करना श्रमसाध्य और कभी-कभी अति श्रमसाध्य कार्य है। यद्यपि औषध निर्वाचनकी सुविधाके लिये उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये हैं, तथापि उपयुक्त औषध निर्वाचनके लिये भेषज-लक्षणके अध्ययन की, बड़ी सावधानी की तथा गम्भीर विचार की, परम आवश्यकता होती है। औषध-निर्वाचनके निमित्त विधिवत् परिश्रम करनेसे चिकित्सकको यह संतोष भी प्राप्त हो जाता है कि उसने अपने कर्तव्यका भलीभाँति पालन किया। यही उसके परिश्रमका सर्वोत्तम पुरस्कार है। पूर्ण परिश्रम और सावधानीसे औषध निर्वाचन करनेपर ही रोगनाशका उत्तम मार्ग प्रशस्त

औषध वा औषधोंकी उच्च शक्तिकी मात्राओंके प्रयोगसे पुराने और चिर रोगोंका भी नाश हो जाता है। साथ-ही साथ रोगीके सब कष्ट भी दूर हो जाते हैं। तत्पश्चात् रोगीको अत्यन्त शीघ्र स्वास्थ्यलाभ होता है, जैव शक्ति पुन स्वतंत्र हो जाती है और पहलेकी भाँति शरीरयन्त्रके जीवन प्रवाहका सचालन करनेलगती है, शक्ति भी लौट आती है।

हो सकता है। परन्तु यह सदुपदेश ऐसे नये सकरवर्गके महानुभावोंको नहीं सुहा सकता, जो सदृश विधानके चिकित्सककी माननीय उपाधिसे विभूषित हैं और ऐसी औषधोंका प्रयोग भी करते हैं जिनका नाम और रूप तो सदृश विधानात्मक है, किन्तु जिनका निर्वाचन वे न जाने कैसे करते हैं। इसी कारण जब उनकी निर्वाचित अनुपयुक्त औषधसे तुरन्त लाभ नहीं होता, तब वे संसारके इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गम्भीर कार्यविषयक अपनी अक्षम्य असावधानी तथा अज्ञानको दोष न देकर, सदृश विधानको कोसते हैं और कहते हैं कि यह विधान अपूर्ण है। [परन्तु यदि सच पूछा जाय, तो सदृश विधानकी अपूर्णता केवल यही है कि जैसे दाल भातका ग्रास बिना उठाये मुखमें स्वय नहीं चला आता, वैसे ही बिना परिश्रम किये उपयुक्त औषधका स्फुरण भी उनकी बुद्धि म स्वयं नहीं हो जाता]।

अभ्यस्त होनेके कारण वे अपना अर्द्ध सदृश विधानात्मक औषधकी कमीको ऐसे एलोपैथिक उपायोंद्वारा पूरा किया करते हैं, जैसे दमन्त्रोस जोंक लगवा देना अथवा रक्तवाहिनी शिराको काटकर पाव डेढ-पाव रक्त निकाल देना आदि। यदि इन उपायोंका आश्रय लेनेपर भी रोगी बच गया, तो उन उपायों की प्रशसा करते हैं कि उन्हीं के समाश्रयसे रोगी बच सका, और तब वे पुरानी हानिकारी चिकित्सा प्रणालीके इन उपायों की—जिनका प्रयोग करनेमें बुद्धिको कुछ भी आयास नहीं करना पडता—प्रशसाका पुल बाँध देते हैं, और स्पष्ट शब्दोंमें समझाते हैं कि इन उपायों

पुराने और जटिल रोगोंका नाश करनेमें अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है।

१४६—पुराने रोगोंका, विशेषकर जटिल रोगोंका, नाश करनेमें अपेक्षाकृत अधिक समयकी आवश्यकता होती है। असदृश विधानसे (एलोपैथीसे) रोगोंका नाश तो प्राय होता नहीं, प्रत्युत इस चिकित्सापद्धतिसे रोग और जटिल हो जाते हैं। ऐसे जटिल रोगोंका नाश करनेमें बहुत अधिक समय लग जाता है। कारण यह है कि उस चिकित्सापद्धतिके अनुसार, वमन, विरेचन रक्तस्रावादि कराकर रोगीके जैव रसोंका लज्जाजनक अपहरण किया जाता है, इस निर्मूल सिद्धान्त पर कि रोगोंका रूप सदैव एकसा होता है, उग्र औषधोंकी वडी वडी मात्राएँ, लगातार बहुत समय तक, सेवन करायी जाती हैं, तथा विशेष खनिजगुण सम्पन्न जलोंमें स्नान कराने आदिकी व्यवस्था दी जाती है। असदृश विधानकी तथाकथित चिकित्साके ये ही तो प्रधान अङ्ग होते हैं।

सामान्य व्याधियां।

१४०—रोगीके तत्काल उत्पन्न हुए एकन्शे सामान्य लक्षणोंके

न रोगनाश करनम बड़ी सहायता मिली। परन्तु यदि रोगी मर गया—जैसा प्राय होता है—तो वे उसके मित्रोंको यह कहकर सान्त्वना देते हैं कि "आपतो जानते ही हैं मृत रोगीको बचानेके लिये सभी सभव उपाय किये गये।"

ऐसे चञ्चल और सहारक वर्गको बहुश्रमापेक्षी किन्तु महोपकारी सदृश-विधानका चिकित्सक कहकर कौन सम्मानित करेगा? ईश्वर करे उनको अपने कर्मोंका यथेष्ट फल मिले, और जब वे अस्वस्थ हों उनकी भी चिकित्सा उसी प्रकारसे हो!

उपालम्भको (कथनको) ऐसा पूर्ण विकसित रोग नहीं मान लेना चाहिए कि उसकी विशेष चिकित्सा करना आवश्यक है। आहार-विहारादिमें आवश्यक परिवर्तन कर देनेसे ही ऐसा सामान्य अस्वास्थ्य सुधर जाता है।

ध्यान देने योग्य रोगोंमें अनेक लक्षण होते हैं।

१५१—परन्तु यदि रोगी कतिपय उग्र एवं कष्टप्रद लक्षणोंसे पीड़ित हो, तो अनुसधान करनेपर चिकित्सकको अन्य सामान्य लक्षणोंका भी पता लग जाता है जिनसे रोगका चित्र पूर्ण हो जाता है।

अनेक प्रबल लक्षणयुक्त रोगोंके लिये सदृश विधानात्मक औषध मिल जाना अधिक निश्चित होता है।

१५२—आशुरोग जितना अधिक प्रबल होता है, उसके लक्षण भी उतने ही बहुसंख्यक और ध्यानाकर्षक होते हैं। यदि पर्याप्त सख्यामें औषधोंका एव उनके सुनिश्चित परिणामोंका ज्ञान हो, तो ऐसे आशुरोगके लिये उपयुक्त औषधका मिल जाना भी उतना ही अधिक निश्चित होता है। बहुसंख्यक औषधोंमेंसे—जिनकी लक्षणसूची सुनिश्चित है—ऐसी औषध ढूढ निकालना कठिन नहीं होता, जिसके विभिन्न रोगलक्षणोंसे, प्रस्तुत रोगके लक्षणसमुच्चयके अत्यन्त सदृश, एव उसे नष्ट करनेवाला रोग-चित्र न बनाया जा सके, और ऐसी ही औषध वाञ्छित औषध होती है।

औषध-निर्वाचन करनेमें मुख्यतः किस प्रकारके लक्षणों-पर ध्यान देना चाहिये ?

१५३—सदृश विधानात्मक रामबाण औषधका निर्णय करने-

मे, अर्थात् प्राकृतिक रोगके लक्षण समूहको परीक्षित औषधोंकी लक्षण सूचियोंसे मिलान करके, अत्यन्त सदृश कृत्रिम रोगजनक औषधका निर्णय करनेमें, प्रस्तुत रोगके उन लक्षणोंपर ही विशेष ध्यान देना चाहिये, जो विचित्र (विशेषत्व-सूचक), असाधारण, अद्वितीय, एवं अति चित्ताकर्षक हों कारण कि उन्हीं लक्षणोंके सदृश जिस औषधके लक्षण होंगे वही औषध उस रोगका नाश करनेके लिये अत्यन्त उपयुक्त होगी। अन्य साधारण और अस्पष्ट लक्षणों पर, जैसे अशान्त निद्रा, क्षुधा न लगना, शिर-पीड़ा अशक्तता, तथा असुख आदिपर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं होती, कारण कि ऐसे साधारण लक्षण तो प्राय सब रोगोंमे पाए जाते हैं और प्राय प्रत्येक औषधसे उत्पन्न होते हैं।

अत्यन्त उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषध, विशेष उपद्रव बिना ही, रोगका नाश कर देती है।

१५४—उपयुक्त औषधकी लक्षण सूचीसे बनी रोगप्रतिमूर्तिमे यदि प्रस्तुत रोगके विचित्र, असाधारण, अद्वितीय, एव विशेषत्व सूचक लक्षणोंके अत्यन्त सदृश लक्षण, अत्यन्त अधिक संख्यामे वर्तमान हों, तो उस रोगके लिये वह अत्यन्त उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषध है, और यदि रोग पुराना न होगया हो, तो पहली ही मात्रासे, बिना विशेष उपद्रवके, दूर हो जाता है और नष्ट हो जाता है।

उपद्रवरहित रोगनाशका कारण।

१५५—बिना किसी उपद्रवके रोगनाश होनेका कारण यह है कि अत्यन्त उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषधके प्रयोगसे, औषधके उन्हीं लक्षणोंका उपयोग होता है जिनका प्रस्तुत रोगके

लक्षणोंसे सम्बन्ध रहता है। रोग-लक्षणोंसे औषध लक्षण प्रबल होते हैं, अत एव जैव शक्तिकी अनुभूतिसे रोग लक्षणोंका बहिष्कार एवं नाश हो जाता है, और औषधलक्षण उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

सदृश विधानात्मक औषधके बहुतसे अन्य लक्षण भी रहते हैं, परन्तु प्रस्तुत रोगसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अत एव, ऐसे लक्षणोंका कोई उपयोग नहीं होता। प्रति घण्टेमें रोगी उत्तरोत्तर अच्छा होता जाता है और उसे उन अन्य लक्षणोका अनुभव प्रायः नहीं होता। कारण यह है कि सदृश विधानात्मक प्रयोगमें औषधकी अत्यन्त अल्प मात्र दी जाती है। इसलिये शरीरयन्त्रके स्वस्थ भागमें, प्रस्तुत रोगसे असंबद्ध लक्षणोंको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य उनमें नहीं रहता। शरीरयन्त्रके स्वस्थ भागमें औषधकी क्रिया होने ही नहीं पाती। उसकी क्रिया तो शरीरयंत्रके उन्हीं भागोंमे होती है जो सदृश रोग-लक्षणोंसे आक्रान्त रहते हैं। औषधकी इस सदृश किन्तु प्रबल क्रियाके विरोधमें जैव शक्तिकी प्रतिक्रिया होती है और मूल रोगका नाश हो जाता है।

उपद्रवरहित रोगनाशके सामान्य अपवादका कारण।

१५६—निर्वाचन अन्यन्त उपयुक्त होते हुए भी, यदि सदृश विधानात्मक औषधकी मात्रा पर्याप्त अल्प नहीं होती, तो उसके कारण अति उत्तेजनाशील एवं अति अनुभूतिपूर्ण रोगियोंमें एक-न-एक असाधारण तुच्छ उपद्रव अवश्य हो जाता है, कोई छोटासा नवीन लक्षण उत्पन्न हो जाता है, और वह तबतक रहता है जबतक औषधकी क्रिया होती रहती है; कारण यह है कि औषध और रोगका, दो समभुज और समकोण त्रिभुजोंके समान, एक दूसरेसे पूर्णतया मिल जाना प्रायः असम्भव है। परन्तु जैव

शक्तिकी प्रतिक्रियासे ऐसे नगण्य भेदका, साधारण परिस्थितियों में, स्वयमेव नाश हो जाता है, और यदि रोगीकी प्रकृति अत्यन्त कोमल न हो, तो उसे उसका अनुभव भी नहीं होता। यदि किसी असदृश औषधका प्रभाव बाधा न कर रहा हो, तथा यदि रोगी पथ्य और सयमका पालन करता रहे, तो नि सन्देह उसे पूर्ण स्वास्थ्यका लाभ हो जाता है।

औषधजन्य अत्यन्त सदृश, किन्तु मूल रोगसे कुछ प्रबल कृत्रिम रोगको सदृश विधानात्मक वृद्धि कहते है।

१५७—यदि सदृश विधानके अनुसार निर्वाचित औषध अत्यन्त उपयुक्त हो, और यदि उसका प्रयोग अल्पाल्प मात्रामे किया जावे, तो उससे अन्य असदृश लक्षण नहीं प्रकट होते अर्थात् कोई नवीन गम्भीर उपद्रव उत्पन्न नहीं होता, और सदृश आशु रोग शान्तिपूर्वक दूर तथा नष्ट हो जाता है। यद्यपि यह निश्चित है, तथापि प्राय ऐसा होता हे कि यदि मात्रा पर्याप्त अल्प न हो, तो औषधप्रयोग होते ही, एक अथवा कुछ घटोंके लिये कुछ नगण्य वृद्धि हो जाती है। यह वृद्धिमूल रोगके अत्यन्त सदृश होती है और रोगीको यही प्रतीत होता है कि उसका रोग बढ गया। यदि मात्रा कुछ बडी हो तो यह वृद्धि कई घटों तक रहती है। परन्तु यह वृद्धि, औषधजन्य अत्यन्त सदृश किन्तु मूल रोगसे कुछ प्रबल कृत्रिम रोगके अतिरिक्त वास्तवमे कुछ नहीं होती।

१५८—औषध प्रयोगके अनन्तर पहले कुछ घण्टोंमे ही सदृश विधानात्मक वृद्धि होनी चाहिए। उससे यही सूचित होता हे कि आशु रोग, सभवत प्रथम मात्रासे ही, विनष्ट हो जायगा। यदि

औषध रोगका नाश करनेमें समर्थ है, तो उससे उत्पन्न कृत्रिम रोग मूल रोगसे स्वभावतः अधिक बलवान होगा, तभी तो वह मूल रोगका नाश कर सकेगी; जैसे कि अधिक बलशाली होने-पर ही एक प्राकृतिक रोग दूसरे प्राकृतिक रोगको नष्ट कर सकता है। सूत्र ४३-४८।

१५६—आशु रोगोंकी चिकित्सामें औषधकी मात्रा जितनी ही अल्प होगी, प्रथम कुछ घण्टोंमें मूल रोगकी प्रत्यक्ष वृद्धि भी उतनी ही नगण्य तथा उतने ही अल्प समयके लिये होती है।

१६०—परन्तु सदृश विधानात्मक औषधकी मात्रा कभी इतनी अल्प नहीं हो सकती कि वह सदृश प्राकृतिक रोगको—जो जटिल और पुराना न हो—उपशम न कर सके, वशमें न कर सके और नष्ट न कर सके (सूत्र २४६ की टिप्पणी); अर्थात् सदृश विधानात्मक औषधकी अल्पसे अल्प मात्रा भी ऐसा कर सकती है। अत एव, हम यह समझ सकते हैं कि उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषधकी मात्राका प्रयोग होनेपर उसकी क्रियाके प्रथम घण्टेमें ही सदैव इस प्रकारकी सदृश विधानात्मक वृद्धि क्यों हो जाती है।[1] हां, यदि मात्रा अत्यन्त संभव अल्पतम हो, तो कदाचित् वृद्धि न हो।

१—जब कभी अन्य चिकित्सकोंने दैवसंयोगसे सदृश विधानात्मक औषधका प्रयोग किया, तब उन्हें भी सदृश रोगके लक्षणोंका ऐसा स्पष्टीकरण दीख पड़ा जो वृद्धि ही प्रतीत होती है। यथा खाजके रोगी-को जब गंधक दिया जाता है, तब उसके शरीरपर खाजके सदृश फोड़े अधिक हो जाते हैं। चिकित्सक इसका कारण तो जानते नहीं। अतएव वे रोगीको इस प्रकार समझानेका प्रयत्न करते हैं कि नष्ट होनेके पहले

चिर रोगोंमें सदृश विधानात्मक वृद्धि तो, चिकित्साके अन्तमें, रोगके पूर्णतया विनष्ट अथवा विनष्टप्राय हो जानेपर ही, हो सकती है।

१६१—सदृश विधानात्मक औषधकी प्राथमिक क्रियासे पहले घण्टेमें अथवा पहले कुछ घण्टोंमें जो सदृश विधानात्मक वृद्धि होना बतलाया गया है, जिससे मूल रोगके लक्षण कुछ बढ़ हुए प्रतीत होते हैं, वह केवल आशु रोगोंमें और नये आशु रोगों में ही होती है। परन्तु दीर्घ काल पर्यन्त क्रिया करनेवाली, औषधोंको जब पुराने और चिर रोगोंके साथ संघर्ष करना पड़ता है, तब चिकित्साकालमें मूल रोगकी ऐसी प्रत्यक्ष वृद्धि होनी नहीं चाहिये, तथा यदि सुनिर्वाचित औषधकी उपयुक्त अल्प मात्राका प्रयोग उच्च शक्तिमें, क्रमशः शक्ति बढ़ा-बढ़ाकर किया जाता है (सूत्र २४७), तो ऐसी प्रत्यक्ष वृद्धि होती भी नहीं। चिर रोगमें तो जब चिकित्सा समाप्तप्राय हो जाती है, और रोग पूर्णतया विनष्ट अथवा विनष्टप्राय हो जाता है, तभी रोगके मूल लक्षणोंकी ऐसी वृद्धि प्रकट हो सकती है।

परीक्षित औषधोंकी संख्या जब-तक इतनी पर्याप्त न हो जावे, कि प्रत्येक प्रस्तुत रोगके लिये उनमेंसे एक पूर्ण सदृश विधानात्मक औषध मिल सके, तब-तक किस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिए।

१६२—अभी पर्याप्त संख्यामें औषधोंकी परीक्षा करके

खाजको भली भाँति निकल आना चाहिये। वे यह नहीं समझते कि वे गंधक-जन्य फोड़े हैं जो परिवर्द्धित खाजके फोड़े-से प्रतीत होते हैं। इत्यादि।

उनके विशुद्ध एवं यथार्थ परिणामोंका ज्ञान प्राप्त नहीं किया गया है, अत एव कभी-कभी ऐसी समस्या उपस्थित हो जाती है कि उपयुक्त औषधके लक्षणोंमें प्रस्तुत रोगके कुछ ही लक्षण मिलते हैं। ऐसी परिस्थितिमें, अर्थात् पूर्ण सदृश विधानात्मक औषधके अभावमें उसी अपूर्ण सदृश औषधका ही प्रयोग करना चाहिए।

१६३—उक्त परिस्थितिमें उक्त औषधसे रोगके उपद्रवरहित पूर्ण नाशकी आशा तो सचमुच नहीं की जा सकती। कारण यह है कि ऐसी औषधके प्रयोगसे कतिपय ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं जो रोगमें पहले कभी देखे नहीं गये। वे लक्षण उस औषधके आनुषंगिक लक्षण होते हैं। परन्तु इससे रोगके उन लक्षणोंके नाश होनेमें कोई बाधा नहीं होती जो उस अपूर्ण उपयुक्त औषधमें मिलते हैं; और इस प्रकार रोग-नाशका अच्छा प्रारंभ तो हो ही जाता है। परन्तु साथ ही-साथ औषधके उक्त आनुषंगिक लक्षण अवश्य प्रकट होते हैं। यदि औषधकी मात्रा पर्याप्त अल्प हो, तो आनुषंगिक लक्षण भी कभी प्रबल रूपमें नहीं प्रकट होते।

१६४—सुनिर्वाचित औषधके लक्षणोंमें प्रस्तुत रोगके कतिपय लक्षणोंका ही सादृश्य होना रोग-नाशमें बाधक नहीं हो सकता, यदि औषधके वे कतिपय सदृश लक्षण प्रस्तुत रोगके असाधारण और विशेषत्व-सूचक लक्षण हों। ऐसी परिस्थितिमें बिना किसी उपद्रवके रोगका नाश हो जाता है।

१६५—यदि निर्वाचित औषधके लक्षणोंमें कोई ऐसा लक्षण न हो, जो प्रस्तुत रोगके असाधारण, विचित्र और विशेषत्व-सूचक लक्षणोंके अति सदृश हो, यदि औषधके साधारण अनिश्चित और अस्पष्ट लक्षणोंसे ही रोग-लक्षणोंका सादृश्य हो (यथा वमनेच्छा, अशक्तता, शिर-पीड़ा आदि), और यदि परीक्षित

औषधोंमेसे कोई अन्य औषध अधिक उपयुक्त न हो, तो उस असदृश विधानात्मक औषधके प्रयोगसे तुरन्त किसी उपकारकी आशा चिकित्सकको नहीं करनी चाहिये।

१६६—ऐसी समस्या कदाचित् ही उपस्थित होती है, कारण कि परीक्षित औषधोंकी संख्या अब बहुत पर्याप्त हो गई है। ऐसी औषधसे (अपूर्ण सदृश औषधसे) यदि कोई दुष्परिणाम भी हो जाता है तो तुरन्त ही अधिक सदृश विधानात्मक औषधके प्रयोगसे वह शीघ्र ही घट जाता है।

१६७—यथा, यदि ऐसी अर्ध सदृश विधानात्मक औषधके प्रथम प्रयोगसे कोई प्रबल आनुषंगिक लक्षण उत्पन्न हो जावे, तो आशु रोगोंमे उस औषधकी क्रियाको पूरी नहीं होने देना चाहिए, और न रोगीको अन्त तक औषधके दुष्परिणामको भोगने ही देना चाहिए, वरन् रोगीकी तत्कालीन परिवर्तित रुग्ण दशाका फिरसे अनुसंधान करके, उसकी नवीन रोग-मूर्तिको स्थिर करनेके लिये, बचे हुए मूल लक्षणोंमे नवीन लक्षणोंको जोड देना चाहिए।

१६८—इस प्रकार, रोगीकी दशाके सदृश दशाको उत्पन्न करनेवाली कोई परीक्षित औषध शीघ्र ही मिल जायगी जिसकी एक मात्रासे यदि रोग पूर्णतया नष्ट न हो जायगा तो पूर्ण नाश की ओर अग्रसर तो अवश्य हो जायगा। यदि उस औषधसे भी रोगीको पूर्ण स्वास्थ्यका लाभ न हो, तो जब-तक उसे पूर्ण स्वास्थ्य-का लाभ न हो जावे, इसी विधिसे उसकी परिवर्तित दशाका पुन पुन अनुसंधान करके अधिकसे अधिक उपयुक्त औषधका निर्वाचन करते रहना चाहिये।

१६९—जब तक परीक्षित औषधोंकी संख्या पर्याप्त नहीं हो जाती, तब-तक संभव है किसी रोगके लिये अनुसंधानपूर्वक प्रथम

औषध-निर्वाचन करनेमें रोगके लक्षण-समुच्चयका सादृश्य किसी एक ही औषधके लक्षणोंसे न हो, वरन् दो औषध उपयुक्त प्रतीत हों; अर्थात् रोगके लक्षण-समुच्चयके एक भागके लिये एक औषध अधिक सदृश विधानात्मक हो, तथा दूसरे भागके लिये दूसरी औषध अधिक सदृश विधानात्मक हो। ऐसी परिस्थितिमें दोनों औषधोंमें से जो अधिक उपयुक्त हो, उसीका प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर रोगदशाका पुनः अनुसधान किये विना, दूसरी औषधका प्रयोग समुचित नहीं होता, और दोनों औषधोंको एक-साथ ही प्रयोग तो कभी करना ही नहीं चाहिए (२७२ वें सूत्र-की टिप्पणी द्रष्टव्य है)। इसका कारण यह है कि प्रथम औषध-के प्रयोगसे रोगदशामें परिवर्तन हो जाता है। उस परिवर्तित अवस्थामें बचे हुए रोग लक्षणोंके लिये, पूर्व-निश्चित दूसरी औषध प्रायः उपयुक्त नहीं रह जाती। अत एव, पुन: अनुसंधान करके, रोगके उस समय वर्तमान लक्षण-समूहके लिये किसी अन्य अधिक सदृश औषधका निर्वाचन करना चाहिए।

१७०—अत एव, उक्त रोगमें तथा उन सब रोगोंमें जिनकी दशामें परिवर्तन हो गया हो, उस समयके वर्तमान लक्षणोंका पुनः अनुसंधान करना चाहिये, और (पूर्व-निश्चित द्वितीय उपयुक्त औषधकी ओर ध्यान दिये विना) पुनः ऐसी औषधका निर्वाचन करना चाहिए, जो उस समय वर्तमान रोगदशाके लिये अधिकसे अधिक सदृश विधानात्मक हो। यद्यपि प्राय ऐसा नहीं होता, तथापि यदि पूर्व-निर्वाचित द्वितीय उपयुक्त औषध ही उस दशाके लिये अत्यन्त उपयुक्त एवं सदृश विधानात्मक प्रतीत हो, तो अन्य औषधकी अपेक्षा वही अधिक विश्वास-भाजन होगी और उसीका प्रयोग किया जाना चाहिये।

१७१—वे चिर रोग जो रतिज न हों प्राय. कच्छु-जन्य होते

है। ऐसे चिर रोगोंमें रोग-मुक्तिके लिये एकके पश्चात् एकके क्रमसे अनेक कच्छु-विष-नाशक औषधोंका प्रयोग करना पड़ता है। प्रत्येक अनुक्रमिक औषधका निर्वाचन रोगकी उस दशाके अनुसार किया जाता है, जो पहले दी गई औषधकी क्रियाके समाप्त होनेपर अवशेष रह जाती है।

अत्यन्त अल्पसंख्यक लक्षणवाले रोगोंकी चिकित्सा-विधि।

१७२—यदि रोगके लक्षणोंकी संख्या अत्यन्त अल्प हो, तो भी रोगमुक्तिका मार्ग इसी प्रकार कंटकाकीर्ण हो जाता है। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। यदि यह बाधा दूर हो जावे, (और यदि परीक्षित औषधोंकी संख्या पर्याप्त हो जावे) तो इस सर्वोत्तम पूर्ण चिकित्सा पद्धतिका मार्ग अत्यन्त प्रशस्त हो जायगा।

१७३—जिन रोगोंके लक्षणोंकी संख्या अत्यन्त अल्प होती है, उनका नाश करना भी कष्टसाध्य ही होता है। ऐसे रोग एकांगी कहे जाते हैं, कारण कि उनके एक अथवा दो मुख्य लक्षण ही प्रकट रहते हैं, शेष सब लक्षण तिरोहित हो जाते हैं। एकांगी रोग भी मुख्यतः चिर रोग ही होते हैं।

१७४—कोई आन्तरिक व्याधि (यथा कई वर्षोंकी पुरानी शिर-पीड़ा, चिरकालका उदरामय, प्राचीन हृदय शूल आदि) अथवा कोई बाहरी व्याधि एकांगी रोगका मुख्य लक्षण हुआ करता है। बाह्य व्याधि-युक्त एकांगी रोगको स्थानीय व्याधि कहते हैं।

१७५—प्रायः विवेचना-शक्तिके अभावके कारण, चिकित्सक आन्तरिक व्याधियुक्त एकाङ्गी रोगोंके उन वर्तमान लक्षणोंको

पूर्णतया ग्रहण नहीं कर सकते, जिनका ज्ञान हो जानेसे रोगका चित्र पूरा हो सकता है।

१७६—तथापि, कतिपय एकांगी रोग ऐसे होते हैं जिनमें, अत्यन्त सावधानीसे परीक्षा करने पर भी (सूत्र ८४-६८), दो-एक उग्र लक्षण ही प्रकट होते हैं, तथा शेष सब लक्षण अस्पष्ट रहते हैं।

१७७—उक्त प्रकारके एकांगी रोग प्रायः दुर्लभ होते हैं, तथापि उनके साथ सफलतापूर्वक संघर्ष करनेके लिये, प्रथम तो उनके अत्यन्त अल्पसंख्यक लक्षणोंके अनुसार ही ऐसी औषधका निर्वाचन करना चाहिये जो सर्वोत्तम सदृश विधानात्मक औषध समझ पड़े।

१७८—कभी निःसंदेह ऐसा हो जाता है कि सदृश विधानके सिद्धान्तोंके अनुसार निर्वाचित औषध ऐसा सदृश कृत्रिम रोग उत्पन्न कर देती है जो मूल रोगका नाश करनेके लिये अत्यन्त उपयुक्त होता है। परन्तु यह प्रायः तब होता है जब रोगके अल्प संख्यक लक्षण बहुत ध्यान देने योग्य, स्पष्ट, असाधारण, विचित्र एवं निर्णायक होते हैं।

१७६—ऐसे (एकांगी) रोगोंके लिये तो प्रथम निर्वाचित औषध प्रायः अंशतः ही उपयुक्त होती है, अर्थात् पूर्णतया उपयुक्त नहीं होती। इसका कारण यही है कि पूर्णतया उपयुक्त औषधके निर्वाचनके लिये रोगमें लक्षणोंकी संख्या पर्याप्त नहीं होती।

१८०—यद्यपि ऐसे रोगोंके लिये औषध पूर्ण सावधानीसे ही चुनी जाती है, तथापि उपर्युक्त कारणसे वह वैसे ही अंशतः सदृश विधानात्मक होती है, जैसे पर्याप्त परीक्षित औषधोंके अभावमें निर्वाचित औषध अंशतः उपयुक्त होती है, (सूत्र १६२ आदि)।

जब अगत सदृश रोगपर उस औषधकी क्रिया होती है, तब वह अपने आनुषंगिक लक्षणोंको प्रकट करती है। औषधकृत अनेक परिवर्तन रोगीके लक्षणोंके साथ मिश्रित हो जाते हैं। यद्यपि उन लक्षणोंको रोगीने पहले कभी अनुभव न किया हो, अथवा वे लक्षण कदाचित् कभी रोगीके अनुभवमे आए हों, तथापि वे उसके रोगके ही लक्षण हैं। कोई-कोई लक्षण जिनका अनुभव रोगीको पहले नहीं हुआ था इस प्रकार प्रकट हो जाते हैं, तथा कुछ लक्षण जिनका उसे अस्पष्ट अनुभव होता था इस प्रकार अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

१८१—इस सबन्धमे यह आक्षेप समुचित नहीं है कि, अपूर्ण अथवा अर्ध सदृश विधानात्मक औषधके प्रयोगसे जो आनुषंगिक चिन्ह और लक्षण प्रकट होते हैं वे प्रयुक्त औषधके ही परिणाम होते हैं। नि सन्देह औषध ही उनके प्रकट होनेका कारण है,[१] परन्तु वे इस प्रकारके लक्षण हैं जिन्हें रोग स्वय रोगीके शरीरयन्त्रमें उत्पन्न कर सकता था, तथा जिनके प्रकट होने मे सदृश लक्षण उत्पन्न करने वाली औषधसे प्रेरणामात्र हुई। साराश यह है कि ऐसी परिस्थितिमे वर्तमान समस्त लक्षणों के समूहको रोगकी वर्तमान दशा मानकर चिकित्सा-कार्य अग्रसर करना चाहिए।

१८२—इस प्रकार, यद्यपि रोगके लक्षणोंकी सख्या अत्यन्त अल्प होनेके कारण, प्रथम निर्वाचित औषध पूर्णतया सदृश विधानात्मक नहीं होती, तथापि उससे रोगके लक्षण पूर्णतया

१—यदि उनका कोई दूसरा कारण न हो, यथा—भीषण कुपथ्य, उग्र भावोद्वेग, शरीरयन्त्रम परिणामकारी परिवर्तन, जैसे मासिक रज, गर्भधारण, प्रसव, आदि।

प्रकट हो जाते है, और फिर दूसरी अधिक उपयुक्त एव अधिक सदृश विधानात्मक औषधके निर्वाचनमे सुविधा हो जाती है।

१८३—अत एव, जब प्रथम निर्वाचित औषधसे लाभ होना स्थगित हो जावे, तब, (यदि नवीन लक्षणोंकी भीषणताके कारण किसी त्वरित उपचारकी आवश्यकता न हो, परन्तु सदृश विधानात्मक औषधमात्राकी सूक्ष्मताके कारण प्राय ऐसा नहीं होता, चिर रोगोंमे तो ऐसा होता ही नहीं), रोगकी पुन परीक्षा प्रारभ कर देनी चाहिए, और रोगकी उस समयकी वर्तमान दशाको लिपिबद्ध करके उसके अनुसार कोई दूसरी सदृश विधानात्मक औषध चुनी जानी चाहिये। यह दूसरी औषध वर्तमान रोगदशाके लिये अति उपयुक्त होगी। अधिक और पर्याप्त संख्यामे लक्षणों के प्रकट हो जानेसे, इस प्रकार, जो औषध निर्वाचित होगी वह अत्यन्त उपयुक्त होगी।[1]

१८४—इसी प्रकार प्रत्येक औषधकी मात्रा जब अपनी क्रिया पूरी कर चुके, जब वह और उपयुक्त एव लाभदायक न रह जावे, उस समय रोगकी जो शेष दशा हो उसका पुन अनुसधान करना चाहिए, तथा उस समयके वर्तमान लक्षणोंको लिपिबद्ध करके उनके अनुकूल अन्य सदृश-विधानात्मक औषधको चुनना चाहिए।

१—कभी-कभी (प्राय आशु रोगोंमें, चिर रोगोंमे कदाचित् ही) लक्षणोंके अस्पष्ट होनेपर भी रोगीको कष्टका अनुभव अधिक होता है। ज्ञानतन्तुओंकी मूढताके कारण रोगीकी ऐसा दशा हो जाया करती है। स्तब्ध ज्ञानतन्तु उसके कष्टको स्पष्ट रूपसे प्रकट नहीं होने देते। यह आन्तरिक मूढता अफीमसे दूर हो जाती है और प्रतिक्रियाकी अवस्थामें उसके कष्ट स्पष्ट रूपमे प्रकट हो जाते हैं।

जबतक रोगीको पूर्ण स्वास्थ्यका लाभ न हो जाय तबतक इसी प्रकार करते रहना चाहिए।

स्थानीय व्याधियुक्त रोगोंकी चिकित्सा-विधि। उनपर बाह्यप्रयोग करना सदैव हानिकर होता है।

१८५—एकांगी रोगोंमें स्थानीय व्याधियोंका महत्त्व अधिक है। उन परिवर्तनों और क्लेशोंको स्थानीय व्याधियाँ कहते हैं जो शरीरके किसी बाहरी भागमें प्रकट होते हैं। अब-तक चिकित्सा-जगत्की यही धारणा थी कि शरीरका केवल वही भाग रुग्ण हो जाता है, जिसमें व्याधि प्रकट होती है, और शरीरके शेष भागसे रोगका कोई सम्बन्ध नहीं होता। यही काल्पनिक एवं युक्तिविरुद्ध मत अत्यन्त हानिकारक चिकित्सा-पद्धतिका प्रवर्तक हुआ।

१८६—केवल बाह्य हेतुसे तत्काल ही उत्पन्न हुई स्थानीय व्याधियोंको पहले-पहल देखते ही स्थानीय व्याधि कहना ठीक हो सकता है; परन्तु यदि बाह्य हेतु अत्यन्त तुच्छ हो, तो ही ऐसी व्याधियाँ वास्तवमें स्थानीय व्याधियाँ होती हैं, और तो ही उनका कोई विशेष परिणाम नहीं होता। कारण यह है कि यदि किसी बाह्य हेतुसे शरीरको तनिक भी गम्भीर आघात लग जाता है, तो समस्त शरीरयन्त्र उससे सहानुभूति करता है और फलतः ज्वर आदि हो जाता है। ऐसी व्याधियोंकी चिकित्साके लिये शल्यचिकित्सा-की शरण प्रायः ली जाती है। परन्तु यह उसी सीमातक समुचित होती है, जहाँतक आहत भागके लिये शल्यादि यन्त्रकी सहायता अपेक्षित हो। वास्तवमें रोगका नाश तो जैव शक्तिकी क्रियाद्वारा ही होता है, और जैव शक्तिकी क्रियाद्वारा रोगका नाश होनेमें जो प्रत्यक्ष बाधाएँ होती हैं उन्हें दूर कर देनेके लिये ही यान्त्रिक

साधनोंकी सहायता आवश्यक होती है; जैसे—उखड़े हुए जोड़को बैठानेके लिये, कटे-फटे हुए भागको सीकर और पट्टी बाँधकर जोड़ देनेके लिये, यान्त्रिक दबावद्वारा कटी हुई नाड़ीसे होते हुए रक्त-निःसरणको बन्द करनेके लिये, जीवित शरीरयन्त्रके किसी भागमें प्रविष्ट बाहरी पदार्थको निकालनेके लिये, शरीरमेंसे दूषित उत्तेजक पदार्थको अथवा संचित रसादिको निकाल देनेके हेतु शरीरमें छिद्र बनानेके लिये, तथा टूटी हुई हड्डीके छोरोंको जुटाने और समुचित पट्टीद्वारा उसे जुटी हुई अवस्थामें सुरक्षित रखनेके लिये, आदि आदि। परन्तु ऐसे आघात-जन्य रोगोंका नाश करनेके लिये समस्त जीवित शरीरयन्त्रको किसी शक्तिमय सहायताकी भी आवश्यकता होती है, यथा, यदि लंबी-चौड़ी धुस चोट लग जावे, अथवा मांसपेशियाँ तन्त्रियाँ और रक्तवाहिनी नलिकाएँ कट-फट जावें, तो समस्त शरीरमें ज्वर हो जाता है जिसे नष्ट करनेके लिये औषधकी आवश्यकता पड़ती है, अथवा शरीरके किसी भागके जल जानेपर पीड़ा होती है और उसे शमन करनेके लिये सदृश विधानात्मक उपचार आवश्यक हो जाता है। ऐसी अवस्थाओंमें सदृश विधानात्मक चिकित्सा परम उपयोगी होती है और उसका आश्रय लिया जा सकता है।

१८७—परन्तु बाह्य शरीरकी जो व्याधि, परिवर्तन, और क्लेश किसी बाहरी आघातसे नहीं होते, अथवा कोई छोटा-सा दाग जिनके बढ़ जानेका कारण हो जाता है, उनकी उत्पत्ति भिन्न प्रकारसे ही होती है। कोई आन्तरिक व्याधि उनका आदि कारण होता है। उन्हें केवल स्थानीय व्याधि मानना, तथा ऐसा ही मानकर उनकी केवल शल्यचिकित्सा करना, अथवा उनपर प्रलेपादिका प्रयोग करना, अथवा ऐसे ही अन्य उपचारोंसे उनकी चिकित्सा करना, न केवल हास्यास्पद है, किन्तु परिणाममें हानि-

प्रद भी होता है। एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति तो अति प्राचीन युगसे ऐसा ही करती आई है।

१८८—ये व्याधियाँ केवल स्थानीय मानी जाती थीं, और इसी कारण स्थानीय रोग कहलाती थीं, मानो शेष शरीरयंत्रका उनसे कोई संबन्ध ही नहीं होता और वे जिस भागमें प्रकट होती हैं उसीमें सीमित रहती हैं, अथवा वे शरीरके उसी बाह्य भाग-संबन्धी व्याधि हैं और जैव शक्तिको उनके विषयमें मानों कोई कर्तव्य और ज्ञान नहीं रहता[1]।

१८९—परन्तु थोड़ा भी विचार करनेसे यह निश्चय हो जाता है कि किसी आन्तरिक कारणके विना, एवं समस्त शरीरयन्त्रके सहयोगके विना, फलतः जैव शक्तिके अस्वस्थ हुए विना, कोई बाह्य व्याधि (स्थानीय रोग), जिसका कारण बाहरी गम्भीर आघात न हो, न तो उत्पन्न हो सकती है, न रह सकती है, और न बढ़ ही सकती है। अनुभूतियों और क्रियाओंमें अविभाज्य व्यक्तित्वकी एकता स्थिर रखनेके लिये शरीरयन्त्रके सब अंगोंमें एक दूसरेसे इतना घनिष्ट सम्बन्ध होता है, कि समस्त स्वास्थ्य-की अनुमति विना, किसी ऐसी व्याधिका प्रकट होना संभव नहीं, तथा शेष समस्त जीवनके सहयोग विना (अर्थात् शरीरयन्त्रके अन्य सब ज्ञान एवं क्रिया-समन्वित भागोंमें व्याप्त जैव शक्तिके सहयोग विना) उसका प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता। वास्तवमें तो समस्त (दुर्व्यवस्थित) जीवनके सहयोग विना उसके अस्तित्वकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। पूर्वकालीन एवं समकालीन आन्तरिक अस्वास्थ्यके विना ओठोंपर एक फुन्सी नहीं हो सकती, अंगुलियों पर एक व्रण भी नहीं हो सकता।

१—प्राचीन चिकित्सा-पद्धतिकी सबसे बड़ी भूल यही है।

१६०—अत एव, यदि शरीरके बाहरी भागमें कोई व्याधि होवे, और यदि कोई बाहरी आघात उसका कारण न हो, तो उसकी वास्तविक चिकित्सा तभी हो सकती है, जब समस्त शरीर-यन्त्रको लक्ष्य करके चिकित्साकी जावे, तथा औषधके आन्तरिक प्रयोगसे प्रधान व्याधिका समूल नष्ट करनेका प्रयत्न किया जावे। यही चिकित्सा विचारपूर्वक, निश्चित और फलवतीहो सकती है, तथा उसीसे रोगका समूल नाश भी हो सकता है।

१६१—उपर्युक्त तथ्य अनुभवद्वारा असंदिग्ध रूपसे प्रमाणित हो जाता है। यदि आन्तरिक औषध समस्त शरीरयन्त्रको लक्ष्य करके चुनी जाती है, और वास्तवमें सदृश विधानात्मक तथा शक्ति-शाली होती है, तो प्रयोग करनेके पश्चात् ही ऐसे प्रत्येक रोगीके स्वास्थ्यमें परिवर्तन करना प्रारम्भ कर देती है। यह परिवर्तन रुग्ण बाह्य भागमें विशेष रूपसे होता है (जिसे साधारण चिकित्सा-जगत् पृथक भाग मानता है)। यदि रुग्ण भाग शरीरका अत्यन्त बाह्य भाग हो, तो भी, उसमें परिवर्तन होने लगता है। परिवर्तन भी अत्यन्त स्वास्थ्यकर होता है। समस्त शरीरका स्वास्थ्य सुधर जाता है और (किसी बाहरी उपचारके बिना ही) बाह्य व्याधि भी नष्ट हो जाती है।

१६२—इसकी सर्वोत्तम विधि यह है कि प्रस्तुत रोगका अनु-संधान करते समय स्थानीय व्याधिके विशेष लक्षणोंके साथ-साथ रोगीके समस्त वर्तमान परिवर्तनों, कष्टों और लक्षणोंको, तथा यदि किसी औषधका प्रयोग किया गया है, तो उसके पूर्व जो परिवर्तन, कष्ट और लक्षण वर्तमान थे, उन सबको मिलाकर रोगका पूर्ण चित्र बना लेना चाहिये। तब सुपरीक्षित औषधोंमेंसे रोग-लक्षण-समुच्चयके सदृश विकारजनक औषधका निर्वाचन

करना चाहिये। तभी औषधका निर्वाचन वास्तवमे सदृश विधानात्मक होता है।

१६३—ऐसी औषधके केवल आन्तरिक प्रयोगसे समस्त शरीरका अस्वास्थ्य दूर हो जाता है, और साथ ही-साथ स्थानीय व्याधि भी नष्ट हो जाती है, दोनों कार्य एक ही साथ होते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त शरीरका रोग ही स्थानीय व्याधिका आधार होता है। अत एव स्थानीय व्याधिको समस्त शरीरके रोगका अगमात्र तथा अति विचारणीय लक्षणमात्र मानना चाहिए।

१६४—स्थानीय रोगोंपर बाहरसे किसी औषधको रगड़ना अथवा उसे रोगके स्थानपर लगाना लाभदायक नहीं है, चाहे रोग आशु हो और तुरत ही हुआ हो, चाहे यह बहुत दिनका हो गया हो, चाहे वह औषध आन्तरिक औषधके रूपमे रोगके लिये रामबाण हो, चाहे सदृश विधानात्मक होते हुए अत्यन्त स्वास्थ्यकर हो, और चाहे साथ ही साथ उसका आन्तरिक प्रयोग भी क्यों न हो? कारण यह है कि यदि स्थानीय रोग बाहरी आघातका परिणाम न हो, वरन् किसी शक्तिमय एव आन्तरिक कारणका परिणाम हो (यथा प्रदाह, विसर्प आदि), तो परीक्षित औषधोंमेसे रोगीमें बाह्य एव आन्तरिक स्वास्थ्यकी दशाके अनुरूप सदृश विधानके अनुसार चुनी हुई आन्तरिक औषधसे ही वह अति शीघ्र विनष्ट हो जाता है, और प्राय किसी बाह्य उपकरणकी सहायताके बिना ही नष्ट हो जाता है।

परन्तु, यदि ऐसा रोग आन्तरिक औषधसे पूर्णतया विनष्ट न हो, और यदि ठीक ठीक पथ्य पालन होते हुए भी रोगके स्थानमें तथा रोगीकी दशामे कुछ रोग शेष रह जावे जिसे जैव शक्ति पूर्णतया विनष्ट न कर सके, तो यही समझना चाहिये कि वह

कच्छु रोगका परिणाम है, और कच्छु तबतक शरीरके आन्तरिक मार्गमें निष्क्रिय रूपमें पड़ा रहा, परन्तु अब सक्रिय हो कर उभड़ गया है और किसी प्रत्यक्ष चिर रोगके रूपमें विकसित हो रहा है।

१६५—ऐसे रोगोंकी, अर्थात् कच्छुजन्य आशु स्थानीय व्याधियोंकी, संख्या कम नहीं होती। उनकी आशु दशाका इस प्रकार भली भाँति शमन हो जानेपर, उनका समूल नाश करनेके लिये (क्रानिक डिज़ीज़ेज नामक मेरे ग्रन्थमें वर्णित विधिके अनुसार) कच्छु-विष-नाशक चिकित्सा करनी चाहिये। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये रोगके अवशिष्ट लक्षणोंके साथ-साथ पूर्व रोगदशाको भी लक्ष्य बनाना चाहिये। चिर स्थानीय व्याधियोंका नाश करनेके लिये तो, यदि वे प्रत्यक्ष रतिज न हों, कच्छु-विष-नाशक आन्तरिक औषध ही आवश्यक होती हैं।

१६६—यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि ऐसे रोगोंमें यदि लक्षण-समुच्चयके अनुसार अत्यन्त सदृश विधानात्मक औषधका केवल आन्तरिक प्रयोग न करके उसका बाह्य प्रयोग भी किया जावे, तो कदाचित् व्याधिका नाश और भी शीघ्र हो सके। कारण कि संभव है व्याधिके स्थानपर लगानेसे औषधकी क्रिया उसमें द्रुत परिवर्तन कर सके।

१६७—परन्तु उपर्युक्त शंकामें जिस चिकित्सा-विधिका प्रस्ताव किया गया है वह केवल कच्छुजन्य स्थानीय व्याधियोंके लिये ही कदापि उपादेय नहीं हो सकती, वरन् प्रमेह और उपदंशकृत स्थानीय व्याधियोंके लिये भी वह विशेषतः अनुपादेय है। कारण यह है कि सतत स्थानीय व्याधि ही जिन रोगोंका मुख्य लक्षण है उनमें औषधके आन्तरिक प्रयोगके साथसाथ यदि बाह्य प्रयोग

भी किया जाय, तो यह असुविधा हो जाती है कि इस प्रकारके बाह्य प्रयोगद्वारा मूल आन्तरिक रोगका नाश होनेके पहलेही उस मुख्य लक्षणका (स्थानीय व्याधिका[१]) नाश हो जाता है, और हमे यह भ्रम हो जाता है कि रोग समूल नष्ट हो गया; अथवा स्थानीय लक्षणके शीघ्र ही नाश हो जानेसे कम-से-कम यह निश्चय करना कठिन हो जाता है और कहीं-कहीं तो असंभव हो जाता है कि औषध का आन्तरिक प्रयोग साथ-साथ करनेसे प्रधान रोगका नाश हुआ कि नहीं।

१९८—अत एव, जिस औषधके आन्तरिक प्रयोगसे रोगका नाश हो सकता है, चिर रोगोंकी स्थानीय व्याधिपर उसका केवल बाह्य प्रयोग कथमपि समुचित नहीं होता, कारण कि ऐसी एकाङ्गी चिकित्साद्वारा चिर रोगकी स्थानीय व्याधिको स्थानान्तरित कर देनेपर, आन्तरिक चिकित्सा—जो पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है—सन्देहपूर्ण अन्धकारमें रह जाती है। मुख्य लक्षणका (स्थानीय व्याधिका) तो नाश ही हो जाता है, बचे हुए अन्य अस्पष्ट लक्षण, मुख्य लक्षणकी भाँति, नित्य और दृढ़ नहीं होते, तथा उनमें इतनी विचित्रता और विशेषता भी नहीं होती, कि उनके द्वारा रोगका चित्र विशेष रेखाओंके सहित स्पष्टतया बनाया जा सके।

१९९—यदि उग्र औषधके बाह्य प्रयोगसे, अथवा शल्य-चिकित्साद्वारा, स्थानीय लक्षण विनष्ट कर दिये जावें, तथा यदि रोगको विनष्ट कर सकनेवाली पूर्ण सदृश विधानात्मक औषधका

१—जैसा मैंने 'क्रानिक डिजीजेज' नामक ग्रन्थमें बताया है, खाजकी फुन्सियाँ, उपदंशका व्रत, प्रमेहके मरोद आदि स्थानीय व्याधियाँ हैं।

आविष्कार न हुआ हो¹, तो बचे हुए लक्षणोंकी अनित्यता एवं अस्पष्टताके कारण, रोगका नाश करना और भी अधिक कष्ट-साध्य हो जाता है; कारण कि जिस आधार पर अत्यन्त उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषधका निर्वाचन, तथा रोगनाशके लिये उसके आन्तरिक प्रयोगकी अवधिका निर्णय किया जा सकता था, उसीके अर्थात् मुख्य बाह्य लक्षणकेही विनष्ट हो जानेसे रोगका अनुसंधान अपूर्ण ही रहता है।

२००—स्थानीय व्याधि (बाह्य लक्षण) ही ऐसे रोगोंमे आन्तरिक औषधकी निर्णायक होती है। यदि वह वर्तमान रहती है, तो समग्र रोगके लिये उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषधका पता लग जाता है। आन्तरिक औषधके प्रयोग होते रहनेपर भी यदि स्थानीय व्याधिका अस्तित्व दृढ़ रहता है, तो यह सिद्ध होता है कि रोगका पूर्ण नाश उस समय तक नहीं हुआ है। जब वह जहाँकी तहाँ विनष्ट हो जाती है तब यह प्रमाणित हो जाता है कि पूर्ण रोगमुक्ति हो गई, और रोगमुक्तिका वाञ्छित अमूल्य फल, स्वास्थ्यलाभ, हो गया।

२०१—यह प्रत्यक्ष है कि जब मानव जैव शक्ति किसी चिर रोगसे ग्रस्त हो जाती है और अपनी शक्तिसे उसे नष्ट नहीं कर सकती, तब वह यह उपाय करती है कि शरीरके किसी बाह्य भागमें स्थानीय व्याधि उत्पन्न कर देती है। जैव शक्तिके इस कार्यका उद्देश्य यही हो सकता है कि ऐसे भागको जो जीवनके लिये अत्यावश्यक नहीं है व्याधिग्रस्त कर देनेसे, संभव है, आन्तरिक रोग शान्त हो जावे, उसका प्रवाह स्थानीय व्याधिके प्रति हो जावे तथा इस प्रकार वह स्थानीय व्याधि-ग्रस्त अंगमें खिंच

१—जैसा सदृश-विधानात्मक प्रणालीके पूर्व कच्छु और प्रमेहादि रोगोंके बाह्य लक्षणोंको विनष्ट करदेनेसे हुआ करता था।

आवे, अन्यथा तो वह (रोग) आन्तरिक अंगोंको विनष्ट करनेको तथा रोगीके प्राणोंको अपहरण करनेको उद्यत रहता है। स्थानीय व्याधिके हो जानेसे यद्यपि आन्तरिक रोग न तो नष्ट होता है, और न कुछ कम ही हो जाता है, तथापि कुछ समयके लिये वह शान्त अवश्य हो जाता है[1]। यह सब होते हुए भी, स्थानीय व्याधि सम्पूर्ण रोगका एक अंगमात्र ही रहता है जिसे जैवशक्ति, आन्तरिक रोगको शान्त रखनेके निमित्त, शरीरके कम भयंकर (बाह्य) भागमें बढ़ा कर प्रकट कर देती है। परन्तु, जैसा पहले बतलाया गया है, आन्तरिक रोगको नष्ट करनेमें अथवा शमन करनेमें स्थानीय व्याधिसे जैव शक्तिको कुछभी सहायता नहीं प्राप्त होती; प्रत्युत स्थानीय व्याधिके होते हुए भी, आन्तरिक रोग बढ़ता ही जाता है; तब उसे वशमें रखने तथा उसका प्रतिनिधि बनानेके उद्देश्यसे, स्थनीय व्याधिको बारंबार बढ़ानेके लिये प्रकृति भी बाध्य हो जाती है। जब तक आन्तरिक कच्छुरोगका नाश नहीं हो जाता, तब-तक पाँवके पुराने क्षत बढ़ते ही जाते हैं; जब-तक आन्तरिक उपदंश नष्ट नहीं हो जाता, तब-तक उपदंशका क्षत बढ़ताही जाता है, जब-तक आन्तरिक प्रमेहसे मुक्ति नहीं हो जाती, तब-तक अंजीर-

१—पुरानी चिकित्सा-प्रणालीके (एलोपैथीके) अनुसार जो कृत्रिम क्षत बनाए जाते हैं उनसे भी ऐसा ही कुछ फल होता है। शरीरके बाह्य भागपर कृत्रिम क्षत कतिपय आन्तरिक रोगोंको शान्त कर देते हैं, परन्तु कुछ ही समयके लिये; अर्थात्, जब-तक उनमें कष्टप्रद पीड़ा रहती है तब-तकके लिये ही; कारण कि तब-तक जैव शक्ति अनभ्यस्त होनेके कारण उनके प्रति आकर्षित रहती है। वे सब आन्तरिक चिर रोगोंको नष्ट नहीं कर सकते। हां, जैव शक्तिद्वारा उत्पन्न हुए क्षतोंकी अपेक्षा उन कृत्रिम क्षतोंसे दुर्बलता अधिक बढ़ जाती है और स्वास्थ्य बहुत गिर जाता है।

के सदृश मांस-प्ररोह बढ़ते ही रहते हैं। इस प्रकार, जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे, आन्तरिक रोग अधिक कष्ट-साध्य होता जाता है।

२०२—उपर्युक्त दशामें यदि पुरानी चिकित्सा-प्रणालीके (एलोपैथीके) अनुसार स्थानीय लक्षणको बाह्य उपचारोंद्वारा इस विचारसे विनष्ट कर दिया जावे, कि उसके नष्ट हो जानेपर संपूर्ण रोगसे मुक्ति मिल जायगी, तो प्रकृति आन्तरिक रोगको तथा उन सब लक्षणोंको उभाड़ देती है, जो स्थानीय व्याधिके साथ-साथ निष्क्रिय अवस्थामें रहते हैं। स्थानीय लक्षणके विनष्ट हो जानेकी क्षतिको प्रकृति इस प्रकार पूर्ण करती है, अर्थात् आन्तरिक रोगको बढ़ा देती है। ऐसा होनेपर प्रायः कहा जाता है कि बाह्य उपचारोंद्वारा स्थानीय व्याधि शरीर-यन्त्रके भीतर कर-दी गयी, अथवा ज्ञानतन्तुओंमें अन्तरित हो गई। परन्तु यह केवल भ्रम है।

२०३—शरीरके बाह्य भागसे स्थानीय व्याधिको नष्ट कर देना ही प्रत्येक बाह्य चिकित्साका लक्ष्य होता है, परन्तु उससे आन्तरिक रोग जैसे-का-तैसा ही बना रहता है, अर्थात, विनष्ट नहीं हो जाता। इस प्रकारकी बाह्य चिकित्साके कतिपय उदाहरण ये हैं:—कच्छुके उद्भेदोंको (खाजकी फुन्सियोंको) अनेक प्रकारके बाह्य प्रलेपोंसे नष्ट कर देना, उपदंशके क्षतको कास्टिक आदि पदार्थोंसे जला देना, तथा प्रमेहके कठोर प्ररोहोंको काटकर अथवा छीलकर नष्टकर देना। सर्वत्र प्रचलित यही विनाशकारी बाह्य चिकित्सा-प्रणाली उन असंख्य चिर-व्याधियोंकी जननी है, जिनसे मानवजाति कष्ट पा रही है और कराह रही है। यद्यपि चिकित्सा-जगतकी यह प्रणाली मानवताके प्रति घोर दण्डनीय

अपराध है, तथापि इसीको सर्वत्र आश्रय दिया जाता है और चिकित्साके आचार्यगण इसीका उपदेश देते हैं[1]।

वास्तविक चिर व्याधियों और रोगोंका नाश आन्तरिक ही होना चाहिए, और ऐसी सदृश विधानात्मक औषधद्वारा होना चाहिए जो उनके मूल कारणभूत चिर रोग-बीजका नाश करनेके लिये उपयुक्त हो।

२०४—जो चिर व्याधि, कष्ट और रोग लगातार अस्वास्थ्य-कर परिस्थितिमें निवास करनेसे उत्पन्न होते हैं (सूत्र ७७), तथा जो औषध-जन्य व्याधियाँ पुरानी अविचारपूर्ण, कष्टप्रद, लंबी और हानिप्रद चिकित्सासे उत्पन्न होती हैं (सूत्र ७४), यदि उन सबको छोड़ दिया जावे, तो शेष चिर-व्याधियां अधिकांश आन्तरिक उपदंशजन्य, आन्तरिक प्रमेहजन्य तथा आन्तरिक कच्छु-जन्य ही होती हैं। इन तीनोंमें आन्तरिक कच्छुके परिणाम सबसे मुख्य और सबसे अधिक संख्यक होते हैं। ये तीनों रोगबीज शरीरयंत्रमें प्रवेश पाकर पहले उसे पूर्णतया आक्रान्त कर लेते हैं और सब दिशाओंमें फैल जाते हैं; तब उनका प्रारंभिक प्रतिनिधिरूप स्थानीय लक्षण प्रकट होता है; जैसे कच्छुमें खाज-की फुन्सियाँ, उपदंशमें क्षत अथवा बाघी, तथा प्रमेहमें मांसका

१—ऐसी बाह्य चिकित्साके साथ यदि किसी आन्तरिक औषधका भी प्रयोग किया जाता है, तो उससे आन्तरिक व्याधिकी वृद्धि ही होती है, क्योंकि उन औषधोंमें पूर्ण रोगका विनाश करनेकी विशेष सामर्थ्य नहीं होती, वरन् उनसे शरीरयन्त्रपर ऐसा आक्रमण होता है कि वह दुर्बल हो जाता है, और उसमें अन्य औषधकृत चिर व्याधियाँ हो जाती हैं।

प्ररोह। इन स्थानीय प्रतिनिधियोंके कारण मूल रोगका आक स्मिक उभाड़ रुका रहता है। यदि चिर रोगबीजोंके इन स्थानीय लक्षणोंको नष्ट कर दिया जाता है, तो प्राकृतिक विधानके अनुसार मूल चिर रोग शीघ्र विकसित हो जाते हैं और उभड पडते हैं, तथा उन असंख्य और नामातीत विपत्तियों एव चिर व्याधियोंको जन्म देते हैं जो सैकड़ों और सहस्रों वर्षोंसे मानवजातिको सता रही हैं। यदि चिकित्सकोंने इन रोगोंको शरीरयन्त्रमें ही समूल नष्ट करनेका विचारपूर्ण प्रयत्न किया होता, तथा उनके स्थानीय प्रतीकोंपर वाह्य उपचारोंका प्रयोग न करके समुचित सदृश विधानात्मक औषधके आन्तरिक प्रयोगपर ही विश्वास किया होता, तो इन असख्य चिर व्याधियोंका प्रादुर्भाव बहुत कम हो जाता।

२०५—अत एव, सदृश-विधानके चिकित्सक चिर रोगबीजोंके प्राथमिक अथवा गौण लक्षणोंकी चिकित्सा वाह्य उपचारोंसे कदापि नहीं करते। चिर रोगबीजोंके गौण लक्षण उनके विकसित हो जानेपर अर्थात् बढ जानेपर प्रकट होते हैं। दोनों प्रकारके स्थानीय लक्षणोंपर बाहरी प्रलेपादि करना (चाहे प्रलेप शक्तिमय औषधका हो[1] अथवा यान्त्रिक उपचार हो) सिद्धान्तके विरुद्ध

१—अत एव, अति विकसित कच्छु तथा उपदशके मिश्रित दोषसे मुखमण्डल तथा ओठपर उत्पन्न हुए कैन्सर (दूषितक्षत) नामक बीभत्स रोगपर भी संखियासे बनी सुप्रसिद्ध "फ्रेरी कास्मे"के प्रयोगकी मैं अनुमति नहीं दे सकता। कारण केवल इतना ही नहीं है कि वह प्रलेप अति पीड़ाप्रद होता है और प्राय असफल होता है, वरन् विशेषकर इसलिये कि यदि इस शक्तिशाली पदार्थके प्रयोगसे स्थानीय दूषित क्षत शरीरके उस भागसे दूर भी हो जायगा, तो भी मूल आन्तरिक रोगमें कुछ भी कमी न होगी, वरन् शरीरयन्त्रकी रक्षक जैव शक्तिको बाध्य होकर प्रधान आन्तरिक प्रबल रोगकी

है। सदृश-विधानके चिकित्सक लक्षणोंके मूलकी अर्थात् प्रधान चिर रोगबीजकी चिकित्सा करके रोगीको रोगमुक्त करते हैं। फलतः प्राथमिक एवं गौण दोनों प्रकारके लक्षण स्वयमेव नहीं रह जाते। परन्तु प्राचीन पद्धतिके चिकित्सक इस प्रणालीके अनुसार तो चिकित्सा करते नहीं। वे सदृश विधानात्मक चिकित्सकके अग्रजन्मा हैं। अत एव, पहले उनकी चिकित्सा होती है और बाह्य उपचारोंद्वारा प्राथमिक लक्षणके विनष्ट हो जानेपर ही प्रायः सदृश विधानकी पारी आती है। फलतः तब-तक चिर रोग-बीजके विकसित हो जानेके कारण गौण लक्षणोंका प्राकट्य हो जाता है, और हन्त! उसी अवस्थासे सदृश विधानके चिकित्सक-को संघर्ष करना पड़ता है। अर्थात्, आन्तरिक चिर रोगबीजोंके विकसित होकर उभड़ जानेके कारण उत्पन्न हुई व्याधियोंकी विशेषतः आन्तरिक कच्छुके दब जानेसे उत्पन्न हुए चिर रोगोंकी, चिकित्सा करनी पड़ती है। इन रोगोंकी आन्तरिक चिकित्साका वर्णन मैंने, अपने कई वर्षोंके अनुभव तथा अनुसंधानके आधार-पर, "क्रानिक डिजीजेज़" (चिररोग) नामक ग्रन्थमें यथा-संभव स्पष्ट रूपसे किया है। पाठक उसे देखें।

लीला-भूमिको मुखमंडलसे (शरीरके बाह्य भागसे) हटाकर अन्य मार्मिक भागमें स्थापित करनी पड़ेगी। स्थानीय व्याधि जब स्थानान्तरित होती है तब सदैव ऐसाही होता है। इसका परिणाम यह होता है कि रोगी अंधा, बहिरा अथवा पागल हो जाता है, उसे आक्षेपिक श्वासकास, शोथ (जलोदर) अथवा धनुष्टंकार आदि भयानक व्याधियां हो जाती हैं। परन्तु संक्रियाके ऐसे उग्र बाह्य उपचारद्वारा दूषित क्षतसे जो संदेहात्मक मुक्ति होती है वह तभी-तक फलवती हो सकती है, जबतक स्थानीय क्षत बहुत बड़ा न हो गया हो और जैव शक्तिमें पर्याप्त सक्रियता बनी हो! परन्तु रोगग्र

चिर रोगोंके मूल कारणका अर्थात् चिर रोग-बीजका प्रारंभिक अनुसंधान।

२०६—चिर रोगोंकी चिकित्सा प्रारम्भ करनेके पहले, अत्यन्त सावधानीसे अनुसंधान कर लेना चाहिए[1] कि रोगीको कभी कोई रतिज रोग तो नहीं हुआ था। यदि हुआ हो, और रोगीमें केवल रतिज रोगके (उपदंशके अथवा प्रमेहके) लक्षण वर्तमान हों,

---

समूल नाश होना भी तभी तक सम्भव होता है। मूल रोगका नाश किये बिना मुखमंडल अथवा स्तनके दूषित क्षतको बाह्य प्रलेपोंद्वारा अथवा शल्य चिकित्सासे विनष्ट करनेका वही परिणाम होता है, यथा कोई अधिक भीषण व्याधि हो जाती है अथवा मृत्यु द्रुत गतिसे आ जाती है। असंख्य बार यही होता आया है, परन्तु पुरानी प्रथाके चिकित्सक अब भी प्रत्येक नये रोगकी चिकित्सा उसी प्रकार करते हैं और फल भी विनाशात्मक ही होता है।

१—ऐसे अनुसंधानमें रोगियोंके अथवा उनके मित्रोंके कथनसे चिकित्सकको भ्रममें न पड़ जाना चाहिए। वे तो अपने चिर एवं अत्यन्त चिर रोगोंके लिये प्रायः ऐसे कारण बतला दिया करते हैं, जैसे पानीमें भीगनेसे अथवा उत्तप्त होकर शीतल जल पीनेसे कई वर्ष पूर्वका शैत्य, भय, मोच, व्यग्रता अथवा तन्त्र मन्त्रादि। ऐसे तुच्छ कारणोंमें यह सामर्थ्य नहीं हो सकती कि वे स्वस्थ शरीरमें चिर रोग उत्पन्न कर सकें और उसे वर्षों तक चलाते रहें, तथा प्रति वर्ष बढ़ाते रहें, जैसा कि विकसित हो जाने पर कच्छु रोग-बीजसे उत्पन्न हुए चिर रोगोंमें होता है। अतएव स्मृति-पथके तथाकथित तुच्छ कारणोंसे नहीं, किन्तु उनकी अपेक्षा अधिक महत्व-पूर्ण कारणोंसे चिर कालस्थायी, कठिन एवं दुःसाध्य चिर रोग उत्पन्न होते हैं। हाँ उन तथा कथित कारणोंसे प्रसुप्त चिर रोगबीज जाग्रत और सक्रिय अवश्य हो जाते हैं।

तो उसीको लक्ष्य बनाकर चिकित्सा करनी चाहिए। परन्तु इस युगमें विशुद्ध रतिज रोगका रोगी कदाचित् ही मिलता है। यदि रतिज रोग कुछ पुराना हो गया हो, और रोगीमें कच्छु वर्तमान हो, तो उसकी चिकित्सा करनेमें इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए; कारण कि ऐसे रोगीमें कच्छु और रतिज रोग मिश्रित होकर जटिल हो जाते हैं। जब रोगीके लक्षण किसी रतिज रोगके विशुद्ध लक्षण न हों, तब तो ᐟ देव यही स्थिति होती है। पुराना हो जाने-पर रतिज रोगका, कच्छु रोगसे मिलकर, जटिल हो जाना बहुत अधिक संभव होता है, कारण कि प्रायः कच्छु ही चिर रोगों-का सबसे प्रधान मूल कारण होता है। कभी-कभी उपदंश, प्रमेह और कच्छु तीनों मिश्रित अवस्थामें पाए जाते हैं। बहुत पुराने रोगियोंकी ही यह दशा देखी जाती है। जटिलताका मुख्य कारण कच्छु ही है। कच्छु ही सब चिर रोगोंका मूल कारण है, चिर रोगोंके नाम और रूप चाहे जो हों। ऐलोपैथिक चिकित्साकी अकुशलताके कारण चिर रोग अधिकाधिक जटिल होते जाते हैं, बढ़ जाते है, तथा उनके रूप अत्यन्त विकृत हो जाते हैं।

पूर्व चिकित्साके विषयमें अनुसंधान।

२०७—रोगबीजका अनुसंधान हो जाने पर, चिकित्सकको इसका भी पता लगा लेना चाहिए कि प्रस्तुत चिर रोगके लिये किस प्रकारकी एलोपैथिक चिकित्साका प्रयोग किया गया है, मुख्यत: किन औषधोंका बार-बार सेवन किया गया है, तथा किन-किन खनिज गुणयुक्त जलोंमें स्नानादि कराया गया है, तथा उन सबके क्या-क्या परिणाम हुए? ऐसे अनुसंधानसे किसी अंशतक यह विदित हो जाता है कि मूल रोगमें क्या विकृति हो गयी है,

किसी अंश तक उनका प्रतिकार करना भी संभव हो जाता है, और जिन अनुपयुक्त औषधोंका दुरुपयोग किया गया है उनका पुनः प्रयोग भी वर्जित किया जा सकता है।

चिर रोगकी रोग-मूर्तिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अन्य आवश्यक बातोंका अनुसंधान।

२०८—रोगीके वयसका, रहन-सहन और आहारादिके प्रकार-का, तथा उसके व्यापार, घरेलू परिस्थिति, एवं सामाजिक संबंध आदिका भी विचार करना आवश्यक होता है। इन बातोंके अनुसंधानसे यह जाना जा सकता है कि उनके कारण उसकी व्याधि बढ़ तो नहीं रही है, अथवा उनसे उसकी चिकित्सामें किसी प्रकार-की बाधा अथवा सहायता हो सकती है। रोगीके स्वभाव और उसकी मानसिक दशापर भी इसी प्रकार ध्यान देना चाहिए, जिससे यह पता चल जावे कि चिकित्सामें उनसे किसी सीमा-तक बाधा तो न होगी, अन्यथा उन्हें रोकना, प्रोत्साहित करना अथवा परिवर्तित करना तो आवश्यक नहीं है।

२०९—इतना हो जानेपर चिकित्सकको रोगीसे पुनः पुनः वार्ता करके, पहले वर्णन की गई विधिके अनुसार, रोगीके रोग-चित्रको, जहाँ तक संभव हो, पूर्ण करनेका प्रयत्न करना चाहिए, जिससे उसके अत्यन्त ध्यान देने योग्य, विचित्र, एवं चरित्रगत लक्षणोंका स्पष्टीकरण हो जावे। चिकित्सा आरंभ करनेके लिए, इन्हीं लक्षणोंके अनुसार उस औषधको पहले चुनना चाहिये जो कच्छु विष नाशक हो, अथवा आवश्यकतानुसार अन्य चिर रोगबीज-विषनाशक हो, तथा जिसमें अधिकसे अधिक लक्षणों-का सादृश्य वर्तमान हो।

तथाकथित मानसिक अथवा भावोद्वेग-संबंधी रोगोंकी चिकित्सा-विधि।

२१०–प्रायः सब एकांगी रोग कच्छुसे ही उत्पन्न होते हैं। ऐसे रोगोंमें एक बड़े प्रधान लक्षणके अतिरिक्त रोग-संबंधी अन्य सब लक्षण मानो तिरोहित हो जाते हैं। एकांगी होनेके कारण ही वे अधिक दुःसाध्य प्रतीत होते हैं। यद्यपि मानसिक रोगभी इसी श्रेणी-के रोग हैं, तथापि उनमें कोई ऐसी विशेषता नहीं होती जो उन्हें अन्य सब रोगोंसे सर्वथा पृथक् कर सके। शारीरिक कहे जाने-वाले रोगोंमें भी मानसिक तथा स्वभावसंबन्धी परिवर्तन सदैव होता है[1]। इसके अतिरिक्त सभी चिकित्सायोग्य रोगोंमें लक्षण-समुचयके साथ-साथ रोगीके स्वभावपर विशेष ध्यान देना ही पड़ता है, तभी रोगका पूर्ण चित्र बन सकता है और सदृश विधानात्मक चिकित्सा सफलता-पूर्वक हो सकती है।

१—कई बार ऐसे रोगी देखे जाते हैं जिनका स्वभाव मृदु और कोमल है, किन्तु वे कई वर्षोंसे अत्यन्त कष्टप्रद रोगसे पीड़ित हैं। चिकि-त्सकोंको उनकी दशापर दया आ जाती है और वे उनका मान रखनेको विवश हो जाते हैं। परन्तु, जब सदृश विधानात्मक औषधद्वारा ऐसे रोगीका रोग नष्ट हो जाता है और वह स्वस्थ हो जाता है, तब उसके स्वभावमें सहसा भयावह परिवर्तन देखकर भय और आश्चर्य हो जाता है। स्वस्थ हो जानेपर वही मनुष्य अकृतज्ञ, क्रूर तथा ईर्षालु हो जाता है और मानवताके स्तरसे बहुत नीचे गिर जाता है। परन्तु, पता लगानेपर विदित हो जाता है कि रुग्ण होनेके पूर्व भी उसका ऐसा ही स्वभाव था।

स्वस्थ अवस्थामें जिनका स्वभाव अच्छा रहता है, रोगग्रस्त हो जाने-पर वे प्रायः हठी, उग्र, उतावले अथवा असहिष्णु, लोभी, चंचलचित्त

२११—उपर्युक्त कथन अक्षरशः ठीक है। रोगीका स्वभाव—उसकी मानसिक दशा—निश्चय ही मुख्य लक्षण है। सदृश विधानात्मक औषधके निर्वाचनमें तो वह मुख्य निर्णायक है। सावधानीसे निरीक्षण करनेपर रोगीका स्वभाव चिकित्सकसे छिपा नहीं रह सकता।

२१२—सब रोगोंमें रोगीकी मानसिक दशा और स्वभाव परिवर्तित हो जाते हैं। औषधियोंके उत्पन्न करनेवाले विधाताने रोगोंकी इस विचित्रतापर विशेष ध्यान दिया है। कारण यह है कि संसारकी कोई शक्तिशाली औषध ऐसी नहीं है जो स्वस्थ परीक्षकके स्वभावमें और मानसिक दशामें विशेष परिवर्तन न करती हो; और विशेषता तो यह है कि प्रत्येक औषध भिन्न प्रकारका परिवर्तन करती है।

२१३—अत एव, यदि प्रकृतिके नियमानुसार, अर्थात् सदृश विधानके सिद्धान्तानुसार, रोगका नाश करना है, तो प्रत्येक रोगमें—अर्थात् आशु रोगोंमें भी—अन्य सब लक्षणोंके साथ मन और स्वभावके परिवर्तनसूचक लक्षणोंका भी निरीक्षण करना चाहिये, तथा रोगीके कष्टको निवारण करनेके लिये, रोगजनक शक्तियोंमें से (औषधोंमें से) उसी औषधको चुनना चाहिये जिसमें रोगके अन्य लक्षणोंके साथ मानसिक और स्वभाव-सम्बन्धी

अधीर, अथवा उदास हो जाया करते हैं। पहले जो संयमी और सभ्य रहते हैं, अस्वस्थ हो जानेपर, रसिक एवं निर्लज्ज हो जाते हैं। निर्मल बुद्धिवाले मन्दबुद्धि हो जाते हैं, तथा दुर्बल अन्तःकरणवाले विवेकपूर्ण और विचारशील हो जाते हैं, तथा अस्थिरचित्तके मनुष्य कभी-कभी बड़े धीर और दृढनिश्चय हो जाते हैं।

लक्षणोंको भी उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य हो,[1] अन्यथा रोगका समूल नाश नहीं हो सकता।

२१४—मानसिक रोगोंकी चिकित्साके सम्बन्धमें मुझे कतिपय बातें ही बतलाना है। कारण यह है कि मानसिक रोगोंके नाश करनेकी विधि भी वही है जिससे अन्य सब रोग नष्ट किये जा सकते हैं। अर्थात्, ऐसी औषधसे ही मानसिक रोग भी नष्ट हो सकते हैं, जो स्वस्थ व्यक्तिमें शारीरिक और मानसिक लक्षणों-को उत्पन्न करके, यह प्रमाणित करदे, कि उसमें प्रस्तुत रोगदशा-के अत्यन्त सदृश रोगदशाको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है। मान-सिक रोगोंका नाश करनेकी इसके अतिरिक्त कोई दूसरी विधि नहीं हो सकती।

२१५—प्राय: समस्त मानसिक तथा भावोद्वेग-संबन्धी रोग शारीरिक रोग हैं जिनमें मन और स्वभाव-सम्बन्धी दुर्व्यवस्था-सूचक लक्षण (प्रत्येक रोगका भिन्न-भिन्न लक्षण) बढ़ता जाता है तथा शारीरिक लक्षण घटते जाते हैं। अन्तमें मानसिक अथवा स्वभाव-सम्बन्धी लक्षण ध्यान देने योग्य अत्यन्त एकांगी लक्षण हो जाता है; तथा ऐसा प्रतीत होता है मानो वह मन अथवा स्वभावरूपी अदृश्य अंगका स्थानीय रोग हो।

२१६—ऐसे रोगी भी काम नहीं होते जिनके तथाकथित भयं-कर घातक शारीरिक लक्षण, यथा फुफ्फुसमें पूयसंचय, अथवा

१—यथा शान्त स्वभावके रोगीको एकोनाइटसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। ऐसे ही यदि रोगीका स्वभाव कोमल और प्रकृति कफयुक्त है, तो नक्स वामिका व्यर्थ सिद्ध होगा, यदि वह प्रसन्न, प्रफुल्लित और हठी है, तो पल्सेटिला कुछ भी उपकार नहीं कर सकता, तथा यदि स्वभाव स्थिर हो, डर और व्यग्रता न हो, तो इगनेशिया कदापि उपयुक्त न होगी।

अन्य आन्तरिक अङ्गोंका ध्वंसात्मक उपक्रम, अथवा अन्य आशु रोग, यथा प्रसूति आदि, वर्तमान मानसिक लक्षणोंकी सहसा अति-वृद्धि हो जानेके कारण, उन्माद, शोकोन्माद सनक आदिमें रूपान्तरित हो जाते हैं। तब शारीरिक लक्षणोंकी भयकरता नहीं रह जाती। रोगी प्राय स्वस्थ प्रतीत होने लगता है। अथवा शारीरिक लक्षणोंका इतना ह्रास हो जाता है कि अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाले चिकित्सकको ही उनके अस्तित्वका बोध हो सकता है। इस प्रकार शारीरिक लक्षणोंका रूपान्तर होते-होते रोग एकांगी अथवा स्थानीय हो जाता है। मानसिक दुर्व्यवस्था-सूचक लक्षण—जो पहले अस्पष्ट थे—बढ़ते-बढ़ते मुख्य लक्षण हो जाते हैं तथा अधिकांश अन्य शारीरिक लक्षणोंके स्थानको ग्रहण कर लेते हैं, शारीरिक लक्षणोंकी उग्रताको अस्थायी रूपेण घटा देते हैं। सारांश यह है कि स्थूल शरीर एवं अगोंकी व्याधिया मानो अशरीरी, सूक्ष्म, मानसिक अंगमें स्थानान्तरित हो जाती हैं। अशरीरी और सूक्ष्म होनेके कारण मानसिक अगको किसी शरीर-रचना-विशेषज्ञने अपने शल्यास्त्रोंद्वारा न तो आजतक देख पाया, और न भविष्यमें देख पावेगा।

२१७—ऐसे रोगोंमें मानसिक और स्वभाव-संबन्धी लक्षण सर्वदा मुख्य और विशेष उग्र होते हैं। अत एव शारीरिक लक्षणोंके साथ-साथ मानसिक और स्वभाव-संबन्धी लक्षणोंके पूर्ण विवरणका तथा उनकी विचित्रता और विशेषता आदिका परिचय बड़ा सावधानीसे प्राप्त करना चाहिये, जिससे मानसिक और स्वभाव-संबन्धी दशाका ठीक-ठीक चित्रण हो सके। तदनन्तर रोगका समूल विनाश करनेके लिये सुपरीक्षित औषधोंमेंसे ऐसी औपचारिक, रोग-जनक शक्ति को (औषधको) चुनना चाहिये, जिसके लक्षणोंमें प्रस्तुत रोगके न केवल शारीरिक लक्षणोंका, वरन्

विशेषकर मानसिक एवं स्वभाव-सबन्धी दशाका अत्यन्त सादृश्य वर्तमान हो।

२१८—ऐसे रोग-लक्षण समष्टिमे उन सब लक्षणोंके वर्णनको सर्वप्रथम स्थान प्राप्त होना चाहिये जो रोगीमें उस समय वर्तमान थे जब रोग तथाकथित शारीरिक रोग था, और जब मानसिक तथा स्वभाव-सबन्धी लक्षण बढकर एकांगी रोगमें रूपान्तरित नहीं हो गये थे, अर्थात्, जब रोग मानसिक और स्वभाव-सबन्धी स्थानीय रोग नहीं हो गया था। रोगीके मित्रादिसे पूछ ताछ करने पर यह वर्णन प्राप्त हो जाता है।

२१९—उक्त शारीरिक रोगके लक्षण घटते-घटते यद्यपि ध्वसावशेष मात्र रह जाते हैं तथापि अत्यत अस्पष्ट रूपमे वर्तमान वे अवश्य रहते हैं। जब कभी मानसिक रोग अस्थायी रूपसे उपशमित हो जाता है अथवा कुछ कालके लिये शान्त हो जाता है, उस समय वे पुन प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट हो जाते हैं। यदि पूर्व शारीरिक लक्षणोंका सतुलन वर्तमान शारीरिक लक्षणों-के साथ किया जावे, तो यह सिद्ध हो जायगा कि यद्यपि वे अब अस्पष्ट हैं तथापि वर्तमान अवश्य हैं।

२२०—अब, जिन मानसिक और स्वभावसबन्धी लक्षणों को रोगीके मित्रादिने तथा स्वय चिकित्सकने निरीक्षण किया है उनको शारीरिक लक्षणोंमें जोड देनेसे रोगका पूर्ण मानचित्र बन जाता है। यदि मानसिक रोग कुछ पुराना हो गया है तो सदृश विधानात्मक चिकित्साद्वारा उसका नाश करनेके लिये, कच्छु-विषनाशक औषधोंमेसे ऐसी औषधको चुनना चाहिये जो रोगके मानचित्रके लक्षणोंके अत्यन्त सदृश लक्षणोंको, विशेषकर वैसी ही मानसिक दुर्व्यवस्थाको उत्पन्न कर सकती हो।

२२१—रोगीके शान्त साधारण जीवनमें, यदि (भय, व्यग्रता, मदिरापान आदिके कारण) सहसा उन्माद अथवा सनक (झक) हो जावे, तो यद्यपि वह भी प्रायः सर्वदा आन्तरिक कच्छुसे ही दावशिखाके समान उत्पन्न होती है, तथापि इस प्रकार आशु अवस्थामें उसकी चिकित्सा तुरन्त ही कच्छु-विषनाशक औषधसे नहीं करनी चाहिये। आरम्भमें अन्य परीक्षित उच्च शक्तिकृत उपयुक्त औषधकी (यथा एकोनाइट, बेलाडोना, स्ट्रैमोनियम, हायोसायमस, मर्क्यूरी आदिकी) अल्प सदृश विधानात्मक मात्रासे उसे इतना उपशमित कर देना चाहिये, कि कच्छु उस समय पुनः अपनी निष्क्रिय अवस्थामें पहुँच जावे और रोगी स्वस्थवत् प्रतीत होने लगे।

२२२—परन्तु इस प्रकार, कच्छु विषनाशक औषधके अतिरिक्त अन्य औषधोंसे जिस रोगीका मानसिक अथवा भावोद्वेग सम्बन्धी आशु रोग उपशमित हो गया हो, उसे रोगमुक्त कदापि नहीं समझना चाहिये। प्रत्युत तदनन्तर ही कुछ समय तक कच्छु-विषनाशक औषधोंका सेवन कराकर उसे कच्छुके चिर रोगबीजसे पूर्णतया मुक्त करनेका प्रयत्न होना चाहिये[1]। कारण यह है कि

१—पुराने मानसिक तथा भावोद्वेग-सम्बन्धी रोगोंका स्वयमेव उपशम हो जाना कदाचित् ही सम्भव होता है। कारण कि आन्तरिक रोग-बीज पुनः स्थूल शरीरमें स्थानान्तरित हो जाता है। इसलिये उन्मादके चिकित्सालयोंसे कदाचित् ही कोई रोगी पूर्ण स्वस्थ होकर लौटता है। इधर तो इन चिकित्सालयोंमें इतने पागल भरे रहते हैं कि जबतक उनमें कोई मर नहीं जाता, अन्य असंख्य प्रवेशार्थी पागलोंमेंसे किसीको प्रवेश ही नहीं मिल सकता। इन चिकित्सालयोंमें कभी कोई पागल नीरोग तो होता नहीं। इससे प्रत्यक्ष प्रमाणित हो जाता है कि तदुक्त चिकित्सा प्रणाली कहाँ

आशु मानसिक रोगके उपशमित हो जानेपर, यद्यपि आन्तरिक कच्छु एकवार फिर वास्तवमें निष्क्रिय हो जाता है, तथापि वह पुन सक्रिय हो जानेको सदैव उद्यत रहता है। अत एव रोगीकी दृढ पथ्य-पालन-पूर्वक कच्छु विपनाशक चिकित्सा हो जानेपर ऐसे रोगके पुनराक्रमणका भय नहीं रह जाता।

२२३—किन्तु यदि आशु मानसिक रोगके शमन हो जानेपर, रोगीकी कच्छु विपनाशक चिकित्सा न की जावे, तो भविष्यमें अल्पतर कारणसे भी उन्मादका पुन शीघ्र आक्रमण निश्चित हो जाता है। वह आक्रमण भयकर और चिरस्थायी होता है। उस अवस्थामें कच्छु पूर्णतया विकसित होकर नित्य अथवा सामयिक उन्मादका रूप धारण कर लेता है। तब कच्छु-विप नाशक औपधोंद्वारा उसकी चिकित्सा अधिक कष्टसाध्य हो जाती है।

२२४—यदि मानसिक व्याधिका पूर्ण विकास न हुआ हो, और यदि यह सदेह हो कि उसका कारण शारीरिक रोग है, अथवा शिक्षादोप, दुश्चरित्र, मानसिक विकासका अभाव, अज्ञान एव अन्धविश्वास आदिसे वह उत्पन्न हुआ है, तो इस विधिसे निर्णय करना चाहिये,जो मानसिक व्याधि शिक्षादोपादि कारणोंसे उत्पन्न होती है वह मैत्रीपूर्ण उपदेशोंसे, सान्त्वनामय युक्तिसे, गम्भीर अभिनयसे तथा बुद्धिपूर्ण परामर्श आदिसे उपशमित हो जाती है, परन्तु वह मानसिक व्याधि जिसका मूल आधार

जानेवाली प्रचलित एलोपैथी रोगनाश करनेमें सर्वथा असमर्थ है। इसके प्रतिकूल वास्तविक सदृश विधानात्मक चिकित्साद्वारा न जाने कितने ऐसे अभागे पागल, मानसिक एव शारीरिक स्वास्थ्य लाभ करके, संसारमें पुन अपने इष्ट मित्रोंको प्राप्त हो गये हैं।

शारीरिक व्याधि हो (और वही वास्तविक मानसिक व्याधि है), ऐसे उपचारोंसे शीघ्र ही नष्ट जाती है, यथा शोकोन्माद-पीडित रोगी समझाने-बुझानेसे अधिक शोकाकुल हो जाता है, अथवा झगडालू, असान्त्वनीय एवं मौन हो जाता है, द्वेषोन्मादका रोगी अति क्रुद्ध हो जाता है, और बडबडानेवाला मूर्ख अधिक मूर्ख हो जाता है[1]।

२२५—किन्तु भावोद्वेग सबन्धी कुछ व्याधियाँ ऐसी होती हैं जिनका कारण तो शारीरिक रोग ही होता है, परन्तु शरीरके तनिक भी अस्वस्थ होनेपर भावोद्वेग ही उनको उत्पन्न करता है और पोषण करता रहता है, यथा लगातार चिन्ता, व्यग्रता, अपराध, तथा बारबार भीषण भय आदि। इस प्रकारकी भावोद्वेगसबन्धी व्याधियोंसे कुछ समयमें शारीरिक स्वास्थ्य प्राय बहुत बिगड़ जाता है।

२२६—जो भावोद्वेग सबन्धी व्याधियाँ मानसिक विकारसे उत्पन्न होती हैं और पोषित होती हैं, यदि उनको उत्पन्न हुए अधिक समय नहीं बीता हो, तथा यदि शरीरपर उनका अधिक प्रभाव नहीं हो गया हो, तो विश्वासप्रदर्शन, मैत्रीपूर्ण झिडकियाँ, तर्कयुक्त मत्रणा तथा सुगुप्त छल आदि मानसिक उपचारोंद्वारा वे शीघ्र नष्ट हो जाती हैं और मानसिक दशा स्वस्थ हो जाती है। (यदि

१—इस प्रकारकी मानसिक व्याधियोंमें ऐसा प्रतीत होता है मानो ऐसे तर्कपूर्ण उपचारोंकी सत्यता रोगीको अशान्त तथा शोकपूर्ण कर देती है। अत एव वह अपनी शारीरिक दुर्व्यवस्थाको सुधारनेका प्रयत्न करता है, परन्तु दुर्व्यवस्थित शरीरकी प्रतिक्रियासे शारीरिक कष्ट मानो पुन मनम स्थानान्तरित हो जाते हैं, फलत उसका मन और स्वभाव अधिक दुर्व्यवस्थित ही हो जाते हैं।

आहारादिका संयम भी किया जावे तो शारीरिक स्वास्थ्य भी सुधरा हुआ प्रतीत होता है)।

२२७—परन्तु इन व्याधियोंका मूल कारण कच्छुका चिर रोग-बीज ही होता है। उस समय तक वह पूर्ण विकसित नहीं होता। अत एव सुरक्षाकी दृष्टिसे ऐसे रोगीको कच्छु-विष-नाशक चिकित्सा करके उसे समूल रोगमुक्त कर देना चाहिये कारण कि प्रत्यक्षतः रोगमुक्त प्रतीत होते हुए भी मूल रोग वर्तमान रहता है। यदि उसका नाश न किया गया तो भविष्यमें भावोद्वेग-संबन्धी व्याधियोंसे वह पुनः पुनः ग्रस्त होता रहेगा।

२२८—नियमित संयम पूर्वक तथा पथ्यसहित सदृश-विधानकी चिकित्साद्वारा ही शारीरिक रोगजन्य उन्मादादि मानसिक एवं भावोद्वेग-संबन्धी व्याधियोंसे मुक्ति हो सकती है। ऐसे रोगियोंके प्रति चिकित्सक और अन्य पार्श्व-वर्ती लोगोंको अत्यन्त समुचित मानसिक वर्ताव करना चाहिए। रोगीके लिये ऐसा वर्ताव उपयोगी मानसिक पथ्य हो जाता है। भयंकर उन्माद-ग्रस्त रोगीके प्रति निर्भयता तथा शान्त दृढ़ विचारका वर्ताव करना चाहिए। शोकाकुल तथा दुःख प्रकट करके रोनेवाले रोगीके प्रति सहानुभूतिका शान्त प्रदर्शन करना चाहिए। व्यर्थ बकवादीके प्रति उपेक्षारहित मौन धारण करना चाहिए। घृणित कार्य और वार्ता करनेवाले रोगीके प्रति पूर्ण उपेक्षा करनी चाहिए। केवल यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि निकटवर्ती वस्तुओंको रोगी तोड़-फोड़कर नष्ट न करने पावे। ऐसे कार्योंके लिये उसे डाँट-फटकार कदापि न करनी चाहिये। प्रत्येक वस्तुके संबन्धमें ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए जिससे रोगीको शारीरिक दण्ड देने

अथवा सतानेकी आवश्यकता ही न पड़े[1]। केवल औषध खिलानेके लिये रोगीको डाँटना फटकारना समुचित हो सकता है। परन्तु सदृश विधानात्मक औषधकी अल्प मात्रा खिलानेमें भी इसकी कदापि आवश्यकता नहीं होती, कारण, पहले तो, उसका स्वाद ही ऐसा होता है कि रोगीको उससे किसी प्रकारके कष्टका अनुभव नहीं हो सकता, दूसरे, पानी आदिमें मिलाकर भी रोगीको अनजानमें औषध पिला दी जा सकती है, और किसी प्रकारका बलप्रयोग नहीं करना पड़ता।

२२६—ऐसे रोगियोंकी बात काटना, उन्हें उत्सुक होकर समझाना, कड़ी आलोचनासे सुधारनेका प्रयत्न करना, इनके प्रति

१—ऐसे रोगियोंकी संस्थाओंमें (पागलखानोंमें) रोगियोंके साथ चिकित्सकोंका बर्बर एवं निर्दयतापूर्ण बर्ताव देखकर किसे आश्चर्य न होगा! वहाँ इस बातकी तो चिन्ता ही नहीं की जाती कि रोगीको रोगमुक्त कैसे किया जा सकता है? वास्तवमें सदृश विधान ही उनका वास्तविक एकमात्र साधन है। पर तु इसका विचार वहाँ किया ही नहीं जाता। उन्माद-ग्रस्त रोगियोंको—जो ससारमें अत्यन्त दयनीय प्राणी हैं—अत्यन्त कष्टप्रद यन्त्रणा देना तथा कठिन आघात पहुँचाना ही चिकित्सक अपना परम कर्तव्य समझते हैं। इस प्रकारके अविवेकपूर्ण और घृणित बर्तावसे चिकित्सक कारागारके प्रहरीके समान हो जाते हैं। भेद केवल इतना रह जाता है कि अपराधियोंको ही कोड़े लगाना प्रहरीका कर्तव्य होता है, परन्तु चिकित्सक निरपराध एवं अत्यन्त दयनीय पागलोंको निर्दयतापूर्वक सताते और कष्ट देते हैं, इस प्रकार वे अपनी नीचताका प्रदर्शन करके यह सिद्ध कर देते हैं कि रोगनाश करनेमें अपनी अयोग्यता एवं आलस्यका प्रतिशोध करनेके लिये रोगियोंके साथ निर्दय व्यवहार करनेके अतिरिक्त वे कुछ नहीं कर सकते।

कटु वाक्योंका प्रयोग करना तथा कायरतापूर्वक उनसे डरना और दबना—सब व्यर्थ होता है। मानसिक और भावोद्वेगसम्बन्धी व्याधियोंके लिये ये सब उपचार एक-समान हानिकर होते हैं। ऐसे रोगी अत्यंत उत्तेजित तो रहते ही हैं, धमकी, छल आदि को वे ताड जाते हैं और उनसे उनका रोग बढ ही जाता है।

अत एव, ऐसे रोगीके साथ चिकित्सकका तथा रक्षकोंका व्यवहार इस प्रकारका होना चाहिए जिससे रोगीको विश्वास हो कि वे उसे पागल नहीं मानते हैं। जहाँतक सभव हो उन वस्तुओंको हटा देना चाहिये, जिनसे उसकी इन्द्रियाँ मन अथवा स्वभाव उत्तेजित होता हो। वास्तवमे ऐसे रोगियोंका मन किसी मनोरञ्जनमे नहीं लगता, कोई बाहरी हितकारी वस्तु उनके मनको आकृष्ट नहीं कर सकती, किसी प्रकारके उपदेश, शिक्षा, मीठी वार्ता, पुस्तक अथवा अन्य वस्तुएँ उसे नहीं सुहातीं। उसकी आत्मा तो रुग्ण शरीरमे बन्दी बनकर जलती और उत्तेजित होती रहती है। रोगमुक्तिके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुसे उन्हें बल और स्फूर्ति नहीं प्राप्त हो सकती। शरीरके स्वस्थ होनेपर ही उनके मानस मन्दिरमे सुख और शान्तिका पुन आभास हो सकता है[1]।

२३०—मानसिक एव भावोद्वेग सबन्धी रोग असख्य प्रकारके होते हैं। उनके सदृश रोगदशाको उत्पन्न करनेवाली सुपरीक्षित कच्छु विष-नाशक औषधोंकी सख्या पर्याप्त हो जानेपर, अथक परिश्रमद्वारा, प्रत्येक प्रस्तुत मानसिक एव भावोद्वेग-सबन्धी

१—इस प्रकारके रोगियोंकी चिकित्साके लिये स्थापित चिकित्सालयों म ही उग्र उन्माद-ग्रस्त रोगियोंकी व्यवस्थित चिकित्सा हो सकती है। उन चिकित्सालयोंमें चिकित्सा-सबन्धी वस्तुओंका सुप्रबध रहता है। कुटुम्बी जनोंके मध्य घरम उनकी चिकित्साका सुप्रबन्ध नहीं हो सकता।

व्याधिग्रस्त रोगीके लिये, अत्यन्त उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषध, सरलतापूर्वक ढूंढ़ी जा सकती है। कारण यह है कि ऐसे रोगीकी मानसिक एवं भावोद्वेग-संबन्धी दशा इतनी स्पष्ट होती है कि उसमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं हो सकता। यदि निर्वाचित कच्छु-विषनाशक औषध अत्यन्त उपयुक्त एवं सदृश विधानात्मक हो, तो ऐसे रोगीकी दशामें सुस्पष्ट उन्नति होनेमें बहुत समय नहीं लगता। सदृश विधानके अतिरिक्त अन्य सब चिकित्सा-प्रणालियाँ ऐसे रोगोंको निर्मूल करनेमें अनुपयुक्त सिद्ध हुई हैं। चाहे उनकी बड़ीसे बड़ी मात्राओंका बारंबार सेवन कराकर रोगीको अन्तिम समयतक सताया जावे, परन्तु उनसे इतना उपकार कदापि नहीं हो सकता, जितना कि सदृश विधानात्मक चिकित्सासे होता है। सुदीर्घ अनुभवसे यह सिद्ध हो चुका है कि सदृश विधानकी सर्वोत्तमता इस प्रकारके रोगियोंकी चिकित्सामें जितनी स्पष्ट रूपेण प्रमाणित होती है, उतनी अन्य किसी प्रकारके रोगोंकी चिकित्सामें नहीं प्रमाणित होती।

सविराम एवं पर्यायशील व्याधियां।

२३१—सविराम रोगोंके संबन्धमें विशेष विचार करना आवश्यक है। इन रोगोंमें कुछ ऐसे होते हैं जो नियत समयपर होते हैं; जैसे असंख्य सविराम ज्वर तथा अन्य ज्वररहित व्याधियाँ जो सविराम ज्वरके समान समय-समयपर हुआ करती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ व्याधियाँ ऐसी होती हैं जिनमें भिन्न-भिन्न रोग-दशाएँ पर्यायक्रमसे अनियमित समयपर हुआ करती हैं, ये भी सविराम व्याधियोंके अन्तर्गत विचारणीय हैं।

२२७—पर्यायशील व्याधियोंकी संख्या बहुत होती है[1]। उनका वर्गीकरण चिर रोगके अन्तर्गत होता है। वास्तवमें वे चिर रोग के ही परिणाम हैं। प्राय विकसित कन्डु ही उनका कारण होता है। परन्तु कभी-कभी उपदश और कन्डु दोनों मिलकर उन्हें उत्पन्न करते हैं। जिन पर्यायशील व्याधियोंका कारण केवल कन्डु होता है वे कन्डु विष-नाशक औषधसे नष्ट हो जाती हैं। परन्तु उपदशमिश्रित कन्डुसे जो पर्यायशील व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं

१—दो अथवा तीन व्याधियाँ पर्यायक्रमसे हो सकती हैं। दो व्याधियोंके पर्यायका उदाहरण —पाँवकी पीड़ाविशेष तथा नेत्र प्रदाह, जब पाँवकी पीड़ा बन्द हो जाती है तब नेत्र प्रदाह हो जाता है। नेत्र प्रदाहसे मुक्त होनेपर पुन पाँवमें पीड़ा होने लगती है। इसी प्रकार आचेप तथा शरीरके अन्य भागमें कोई व्याधि पर्यायक्रमसे हो सकती है। तीन व्याधियोंके पर्यायका उदाहरण —एक मनुष्य प्राय साधारणतया अस्वस्थ रहा करता है। कभी कभी उसका शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक शक्तियाँ बहुत उत्तम हो जाती हैं, यथा अति प्रसन्नता, शरीरमें असाधारण स्फूर्ति, सुखकी असाधारण अनुभूति, क्षुधाकी वृद्धि आदि। इसके पश्चात् बिना किसी पूर्व सूचनाके सहसा वह उदास, शोकाकुल तथा खिन्न हो जाता है, पाचनादि शारीरिक क्रियायें अव्यवस्थित हो जाती हैं। तब फिर बिना पूर्व सूचनाके वह अपनी पुराने साधारण अस्वास्थ्यको भोगने लगता है। इस ही वह प्रकारको भिन्न भिन्न व्याधियोंका पर्याय हुआ करता है। जब नयी व्याधिका पदार्पण होता है तब पहली व्याधिका

नका नाश करनेके लिये उपदंश विषनाशक औषधके पर्याय-
मिक प्रयोगकी आवश्यकता होती है। ऐसे पर्यायक्रमिक प्रयोग-
ा वर्णन "क्रानिक डिसीजेज" नामक ग्रन्थमें किया गया है।

नियत समयपर होनेवाली सविराम व्याधियाँ।

२३३—सविराम रोगोंमें रोगदशाका आक्रमण नियत
मयपर होता है। आक्रमण होनेके पूर्व, रोगी प्रत्यक्षमें स्वस्थ
ीत होता है। इसी प्रकार नियत समयपर ही रोगी उस रोग-
शासे मुक्त भी हो जाता है। ये रोग नियत समयपर आते हैं
ौर नियत समयपर रोगीको छोडकर चले भी जाते हैं। इस
कारके रोगोंमें सविराम-ज्वर प्रसिद्ध ही हैं। अन्य रोग भी,
नमें ज्वर नहीं होता, सविरामशील होते हैं, ।

२३४—ज्वर-रहित सविराम रोग महामारीके समान जन-
मूहको आक्रान्त नहीं करते, और न यत्र-तत्र सर्वत्र ही फैलते
। कच्छु ग्रस्त व्यक्तियोंको ही ऐसे रोग हुआ करते हैं। वास्तव-
में कच्छुके ही परिणाम हैं। उनकी गणना भी चिर रोग कच्छु-
अन्तर्गत ही की जाती है। उनकी चिकित्सा भी कच्छु-विष-
ाशक औषधोंद्वारा सफलतापूर्वक हो जाती है। उनके मूलमें
ंशका सम्मिश्रण कदाचित् ही पाया जाता है। उनकी सविराम
लताको समूल नष्ट कर डालनेके लिये कभी-कभी शक्तिकृत
नकोनाकी (सिनकोना-छालकी अर्थात् चायनकी) मात्रा भी
च-बीचमें देनी पडती है।

सविराम ज्वर।

२३५—सविराम ज्वर[1] कभी कभी महामारीके सदृश जन-

१—अबतक जो रोग विज्ञान प्रचलित हैं यह अब भी तर्कविहीन

समूहको आक्रान्त करता है, और कभी यत्र-तत्र केवल कतिपय व्यक्तियोंको ही होता है। जलप्लावित आर्द्र भूभागमें यह स्वाभा-

---

बाल्यावस्थामें ही है। उसके अनुसार सविराम ज्वर केवल एक प्रकारका शीतज्वर है, तथा विराम-कालकी अवधिके अनुसार वह एकंतरा, तिजारी, चौथिया आदि हो सकता है। परन्तु वास्तवमें विराम-काल-संबन्धी भेदके अतिरिक्त सविराम ज्वरोंमें अनेक महत्त्वपूर्ण भेद होते हैं, और सविराम ज्वर असंख्य प्रकारके होते हैं। कई तो ऐसे होते हैं जिन्हें शीतज्वर ही नहीं कह सकते, कारण कि उनमें शीतकी अवस्था तो होती ही नहीं, वरन् केवल ज्वर होता है; कई ऐसे होते हैं जिनमें केवल शीतकी अवस्था होती है, तथा अन्तमें होनेवाली घर्मावस्था भी सबमें नहीं होती। कई सविराम ज्वर ऐसे होते हैं जिनमें रोगीको भीतर तो शीतका अनुभव होता रहता है, किन्तु बाह्य शरीर उत्तप्त रहता है, तथा अन्य कई ऐसे होते हैं जिनमें बाह्य शरीर शीतल होते हुए रोगीको उत्तापकी अनुभूति होती रहती है। कई ऐसे होते हैं जिनकी एक पारीमें रोगीको केवल कम्प अथवा शीतकी अनुभूति होती है, फिर विराम-काल आ जाता है, जिसमें रोगी स्वस्थ रहता है; तब दूसरी पारीमें केवल उत्ताप होता है। अन्तमें होने वाली घर्मावस्था भी किसी-किसीमें होती है, किसीमें नहीं होती। कोई ऐसे होते हैं जिनमें पहले ज्वर होता है, और ज्वर समाप्त होनेपर ही शीतकी अवस्था आती है। कई ऐसे होते हैं जिनमें शीत अथवा ज्वर पहले होता है, फिर कई घण्टेका विराम-काल आ जाता है, तब दूसरी पारीमें केवल घर्मावस्था होती है। कई ऐसे होते हैं जिनमें घर्मावस्था होती ही नहीं, अन्य कई ऐसे होते हैं जिनमें केवल घर्मावस्थाकी ही पारी होती है, न शीत होती है न ज्वर होता है, अथवा ज्वरकी अवस्थामें ही घर्म होता है। इनके सिवाय, अतिरिक्त लक्षणोंकी विभिन्नताके अनुसार भी अन्य कई भेद होते हैं, यथा—किसीमें विशेष प्रकारकी शिरपीड़ा

निक हुआ करता है। प्रथम दोनों प्रकारके सविराम ज्वरोंमें प्राय दो विपरीत अवस्थाएँ (यथा शीत और ज्वर, अथवा ज्वर और शीत)

होती है, किसीमें मुखका स्वाद बिगड़ जाता है, किसीमें वमनेच्छा, किसीमें वमन, और किसीमें उदरामय होता है, किसीमें प्यास लगती है, किसीमें प्यासका अभाव रहता है, किसीमें शरीर अथवा हाथ-पाँवमें विशेष प्रकार की पीड़ा होती है, किसीमें निद्रा नहीं आती, किसीमें निद्रालुता अधिक हो जाती है, किसीमें सन्निपातक लक्षण हो जाते हैं, किसीमें उन्माद, और किसीमें स्वभावका पर्यायक्रम होता है, किसी किसीमें आक्षेपादि होने हैं। फिर किसीमें ये लक्षण शीत अवस्थाके पूर्वमें, किसीमें शीत अवस्थाके साथ-साथ, और किसीमें शीत अवस्थाका अन्त हो जानेपर प्रकट होते हैं, किसीमें घमावस्थाके पूर्व, साथ-साथ, अथवा उसके अन्त हो जाने पर ये लक्षण प्रकट होते हैं, किसी-किसीमें ज्वर (उत्ताप) के पूर्व, साथ-साथ, अथवा अन्त हो जानेपर होते हैं। इस प्रकार सविराम ज्वरके असंख्य भेद होते हैं। ये सब भिन्न भिन्न प्रकारके सविराम ज्वर होते हैं। प्रत्येकके लिये भिन्न भिन्न औषध आवश्यक हो सकती हैं। यह मानना ही पड़ेगा कि सब सविराम ज्वर सिनकोनाकी छाल अथवा उससे बना अन्य औषधोंके प्रयोगसे दबा दिये जा सकते हैं, यथा सल्फेट आफ क्विनाइन। तात्पर्य यह है कि क्विनाइनके प्रयोगसे सब प्रकारके सविराम ज्वरोंकी सविरामता निःशेष देह नष्ट हो सकती है, और उनकी पारी तोड़ दी जा सकती है, परन्तु जिन सविराम ज्वरोंमें सिनकोना आदि उपयुक्त औषध नहीं होती, उन सविराम ज्वरोंसे पीड़ित रोगियोंके सविराम ज्वरकी पारी नष्ट हो जानेपर भी उन्हें स्वास्थ्य-लाभ नहीं होता, और तब उन्हें दूसरे-दूसरे रोग होने लगते हैं, तथा पहलेकी अपेक्षा वे अधिक अस्वस्थ हो जाते हैं। उन्हें सिनकोनाका (क्विनाइनका) एक विचित्र प्रकारका रोग हो जाता है और वास्तविक रोगनाशक चिकित्सा प्रणालीद्वारा चिर काल

पर्याय-क्रमसे हुआ करती है। परन्तु बहुधा तीन अवस्थाओंका पर्याय होता है यथा शीत, ज्वर और घर्म। अत एव साधारण वर्गकी सुपरीक्षित औषधोंमेंसे (जो इनके लिये निश्चित उपचार होती हैं) ऐसी औषध चुनना चाहिये, जो स्वस्थ व्यक्तिमें दोनों अथवा तीनों पर्यायक्रमिक अवस्थाओंको उत्पन्न कर सकती हो, अथवा जो अति सदृश, प्रबलतम, विचित्र एव ध्यान देने योग्य अवस्थाको उत्पन्न कर सकती हो (चाहे वह शीतकी अवस्था हो, चाहे ज्वरकी अवस्था हो, अथवा चाहे घर्मकी अवस्था हो परन्तु हो अति प्रबल और विचित्र, तथा औषधजन्य लक्षणोंमें उस अवस्थाके लक्षणोंका अत्यन्त सदृश विधानात्मक सादृश्य वर्तमान हो)। परन्तु ज्वरके विराम-कालमें रोगीके स्वास्थ्यसम्बन्धी लक्षणोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, कारण कि सदृश विधानात्मक औषधके निर्वाचनमें ऐसे लक्षण निर्णायक होते हैं[1]।

२३६—सविराम ज्वरोंमें, विरामकालके प्रारम्भमें औषधका प्रयोग करना चाहिये। रोगकी पारी समाप्त हो जानेपर जब रोगी

तक उसका उपचार होनेपर भी रोगीका स्वास्थ्य ठीक नहीं हो पाता। फिर भी इसे (क्विनाइनको) शीतज्वरकी एकमात्र औषध कहते हैं।

१—सविराम ज्वरोंकी चिकित्सा करनेमें बहुत सावधानी करनेकी आवश्यकता होती है। इस विषयकी व्याख्या डाक्टर वान बोनिघासनने अपनी Versuch einer Homoopathischen Therapic der Wechselfieher, 1833 Munster bei Regensberg) नामक पुस्तकमें बहुत ही उत्तमतासे की है। उसमें उन्होंने अनेक प्रकारके ज्वरोंकी महामारियोंके लिये अत्यन्त उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषध चुननेके लिये सर्वोत्तम साधनोंको प्रस्तुत करके इस लोकोपकारी चिकित्सा प्रणालीकी जितनी सेवा की है, उतनी मेरे किसी अन्य शिष्यने नहीं की।

उसके परिणामोंसे मुक्त हो जाता है वही समय औषध-प्रयोगके लिये सर्वोत्तम है। उस समय औषध देनेसे सफलता होती है। कारण यह है कि औषधको अपनी स्वतन्त्र क्रिया करनेके लिये पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जाता है, और बिना किसी उपद्रव और उत्पातके वह शरीरयन्त्रमे उन परिवर्तनोंको कर सकती है जिनके होनेसे ही स्वास्थ्यका पुन लाभ हो सकता है। परन्तु यदि पारी प्रारभ होते समय औषधका प्रयोग होता है, तो औषध चाहे कितनी भी उपयुक्त क्यों न हो उसकी क्रिया रागकी पारीके साथ ही साथ होती है। इसका परिणाम यह होता ह कि शरीरयन्त्रमे इतनी भीषण प्रतिक्रिया होती है, इतना भयानक सघर्ष होता है कि रोगीके प्राणोंका सङ्कट[1] न उपस्थित हुआ तो अत्यधिक शक्ति क्षय तो अवश्य हो जाता है। परन्तु यदि वही औषध विराम-कालके प्रारभमें दी जाती है अर्थात् पारीके पुन प्रारभ होनेके बहुत पहले दी जाती है, तो जैवशक्तिको औषधकी क्रियाद्वारा अपना परिवर्तन शान्तिपूर्वक कर लेनेका और स्वस्थ हो जानेका पर्याप्त समय मिल जाता है।

२३७—परन्तु यदि विराम काल बहुत छोटा हो, जैसा कि अति-दूषित ज्वरोंमें होता है, अथवा यदि विराम-कालमे पारीके कुछ कष्ट वर्तमान हों, तो सदृश विधानात्मक औषधकी मात्रा उस समय दी जानी चाहिये जिस समय घर्मावस्थाका अन्त हो रहा हो, अथवा पारीकी अन्तिम दशाका अन्त हो रहा हो।

२३८—कभी-कभी उपयुक्त औषधकी एक ही मात्रा भविष्य

१—अनेक अवसरोंपर देखा गया है कि यदि शीत अवस्थाके आरम्भ-में रोगीको अफीमकी अल्प मात्रा भी दे दी जाती है तो वह रोगीको तुरत ही मार डालती है।

आक्रमणोंका निवारण कर देती है और स्वास्थ्य लौट आता है, परन्तु *प्राय:* प्रत्येक पारीके अन्तमें औषधकी मात्राको अवश्य दुहराना चाहिये, अथवा उत्तम तो यह होता है कि यदि लक्षणों में परिवर्तन न हुआ हो, तो मात्राको दुहरानेके पहले औषधकी शीशीको दस-बारह बार ठोंककर औषधकी शक्तिको कुछ परिवर्द्धित कर लेना चाहिये। मात्रा दुहरानेकी इस नवीन प्रथाका वर्णन २७० वें सूत्रकी टिप्पणीमें किया गया है।

परन्तु कभी-कभी स्वस्थ हो जानेके कुछ दिनोंके पश्चात् भी सविराम ज्वर पुनः लौट आता है। यह तभी होता है जब उसका मूल कारण वर्तमान रहता है, और स्वस्थ हो जानेपर भी रोगी उससे प्रभावित होता रहता है। जल-प्लावित आर्द्र प्रदेशोंमें, ऐसा प्रायः होता है। ऐसी दशामें पूर्ण स्वास्थ्यका लाभ तभी हो सकता है, जब रोगीको रोगकारक परिस्थितिसे दूर कर दिया जावे, *यथा* जलप्लावित आर्द्र प्रदेशसे किसी पर्वती प्रदेशमें चले जानेपर आर्द्र प्रदेशीय सविराम ज्वरसे मुक्ति मिल जाती है।

२३९—बहुधा प्रत्येक औषधकी विशुद्ध क्रियाद्वारा विचित्र प्रकारका ज्वर-विशेष होता है, तथा पर्यायक्रमिक अवस्था संयुक्त सविराम ज्वर भी होता है। प्रत्येक औषधका ज्वर अन्य औषध कृत ज्वरोंसे भिन्न होता है। अत एव विस्तृत औषध-क्षेत्रसे एवं सुपरीक्षित औषधोंके अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्रसे भी, असंख्य प्रकारके प्राकृतिक सविराम ज्वरोंके लिये तथा अन्य ऐसे ज्वरोंके लिये उपयुक्त औषध प्राप्त की जा सकती हैं।

२४०—यदि सविराम ज्वर महामारीके सदृश फैला हो, और उसके लिये जो सदृश विधानात्मक औषध निश्चित की गई हो यदि वह किसी एक अथवा कतिपय सविराम ज्वरपीड़ित रोगियोंको नीरोग न कर सके, तथा यदि जलप्लावित आर्द्र भूमिका प्रभाव

पाला पड़ जाता है कच्छुकृत सविराम ज्वरसे। अत एव, ऐसे सविराम ज्वरको शमन करनेके लिये शक्तिकृत सल्फर अथवा हिपर सल्फरकी अल्पाल्प मात्रा ही समर्थ होती है और उसके पुनः प्रयोगकी अर्थात् दुहरानेकी कदाचित ही आवश्यकता होती है।

२४३—जलप्लावित आर्द्र प्रदेशमें निवास न करते हुए भी किसी किसीको अत्यन्त दुःसाध्य सविराम ज्वर हो जाता है। अन्य आशु रोगोंके सदृश इस प्रकारके सविराम ज्वरोंका भी मूल कच्छु ही होता है। आशुरोगोंके समान ऐसे ज्वरोंकी चिकित्सा भी आरंभमें कुछ दिन तक साधारण वर्गकी सदृश विधानात्मक औषधसे ही करनी चहिए; अर्थात् उन औषधसे करनी चाहिए जो कच्छु विष-नाशक न हों। यदि उन्हींसे रोगमुक्ति हो जावे तो उत्तम है, अन्यथा समझ लेना चाहिए कि विकासोन्मुख कच्छु सविराम ज्वरके रूपमें हमारे सामने है और कच्छु-विषनाशक औषधसे ही उसका शमन हो सकेगा।

२४४—जलप्लावित आर्द्र प्रदेशोंके तथा बारंबार बाढ़ग्रस्त होने वाले भूभागोंमें सविराम ज्वरोंसे पुरानी प्रथाके चिकित्सकों-का कार्य बहुत बढ़ जाता है। परन्तु पथ्य-पालन करनेवाला संयम शील युवक, यदि अभाव, थकावट एवं व्यसनातिरेकसे अपनी शक्तियोंका अवसाद न होने देवे, तो दलदल प्रदेशोंमें भी सुखपूर्वक निवास कर सकता है। अधिकसे अधिक इतना ही होगा कि उस प्रान्तमें जाने पर प्रारम्भमें ही सविराम ज्वरका आक्रमण हो जायगा; किन्तु यदि वह पथ्य और संयमादिका पालन करता रहे, तो उच्च शक्तिकृत सिनकोनाकी (चाइनाकी) एक-दो अल्पाल्प मात्राके सेवनसे ही ज्वरसे मुक्त हो जायगा। परन्तु पर्याप्त शारीरिक परिश्रम करते हुए तथा पथ्यपालनपूर्वक एवं इन्द्रिय-निग्रह-सहित बौद्धिक जीवन व्यतीत करते हुए भी,

दलदल प्रदेशीय सविराम ज्वर यदि सिनकोनाकी ऐसी एक दो अल्प मात्रासे विनष्ट न हो जावे, तो यह समझ लेना चाहिए कि व्याधिके मूलमें विकासोन्मुख कच्छु-रोग वर्तमान है, और कच्छु-विष-नाशक चिकित्साके बिना उस प्रदेशमें उसकी सविराम ज्वरसे मुक्ति नहीं हो सकती। यदि बिना विलम्ब हुए ऐसा रोगी उस प्रदेशको छोड़ देवे, और किसी शुष्क अथवा पर्वतीय भूभाग-में चला जावे, तो कभी-कभी प्रत्यक्ष स्वास्थ्यलाभ तो हो जाता है (अर्थात् ज्वर छोड़ जाता है), परन्तु यह तभी संभव होता है जब व्याधिकी जड़ें गहरी न हो गई हों, अर्थात् कच्छुका पूर्ण विकास न हो गया हो, और वह पुन अपनी सुप्त निष्क्रिय अवस्थामें लौट सकता हो। किन्तु फिर भी बिना कच्छु विष-नाशक चिकित्साके उसे पूर्ण स्वास्थ्यका लाभ नहीं हो सकता।

औषध-प्रयोग विधि।

२४५—सदृश विधानके अनुसार चिकित्सा करनेमें मुख्य-मुख्य प्रकारके रोगोंपर तथा उनसे सम्बन्धित परिस्थितियोंपर कितना ध्यान देना चाहिए, इस विषयका विचार अब तक किया

१—सिनकोनाकी बड़ी बड़ी मात्राओंका बारबार प्रयोग करनेसे तथा सिनकोनासे बनी अन्य औषधोंका (यथा सल्फट आफ क्विनाइन प्रभृतिका) सेवन करनेसे सचमुच ऐसे रोगियोंको सविराम ज्वरके आक्रमणोंसे मुक्ति तो हो जाती है, किन्तु स्वास्थ्यलाभ नहीं होता, केवल यह भ्रान्ति होती है कि ज्वरमुक्ति हो गई, कारण कि इस प्रकार ज्वरमुक्त हो जानेपर भी वह अन्य प्रकारसे रुग्ण ही तो बना रहता है और क्विना-इनके असाध्य विकारोंसे सदैव कष्ट पाया करता है (देखिये २७६वें सूत्रकी टिप्पणी)

गया। अब औषधका एवं उसके प्रयोगकी विधिका तथा चिकित्सा-समयके पथ्यका विचार किया जायगा।

२४६—चिकित्साके समय जबतक रोगीकी दशामें प्रत्यक्ष एवं ध्यानाकर्षक सुधार होता रहे, तब तक औषधका पुनः प्रयोग कदापि न करना चाहिए, कारण कि प्रयुक्त औषधसे जो सुधार अग्रसर हो रहा है वह स्वयमेव शीघ्रतासे पूरा हो जाता है। आशु रोगोंमें ऐसा प्राय होता है। यद्यपि अधिक पुराने रोगोंमें भी सुनिर्वाचित औषधकी एक ही मात्रा सुधारोंको धीरे-धीरे अग्रसर करके पूरा तो कर देती है तथापि ऐसा करनेमें अर्थात् अपनी पूर्ण स्वाभाविक सहायता प्रदान करने में उसे ४०, ५०, ६० अथवा १०० दिनका समय लग जाता है। परन्तु कदाचित् ही ऐसा होता है, और फिर यदि यह अवधि आधी, चौथाई अथवा और भी कम हो जावे, तथा रोगी अति शीघ्र रोगमुक्त हो सके, तो यह चिकित्सक और रोगी दोनोंके लिये अवश्य ही बड़े महत्त्वकी बात हो। अनेक नूतन अनुभवोंद्वारा मुझे अब निश्चय हो गया है कि नीचे लिखे नियमोंका पालन करके अनायास ही इस उद्देश्यकी पूर्ति की जा सकती है,

(१) औषधका चुनाव अत्यन्त सावधानीसे हो।

(२) निर्वाचित औषध पूर्णतया सदृश विधानात्मक हो।

(३) औषध उच्च शक्तिकृत हो।

(४) मात्रा पानीमें गलाकर दी जावे।

(५) औषधकी मात्रा इतनी अल्प हो जितनी अनुभवद्वारा समुचित सिद्ध हुई हो।

(६) निश्चित अन्तरालके पश्चात् उपर्युक्त मात्रामें औषध पुनः-पुनः पिलाई जावे, और

(७) प्रत्येक मात्राकी शक्ति, पूर्व मात्राकी शक्तिसे तथा भविष्य मात्राकी शक्तिसे कुछ भिन्न होनी चाहिए।

कारण यह है कि औषधजन्य सदृश रोगद्वारा जैव शक्तिमें परिवर्तन किया जाता है, और एक ही शक्तिकी मात्राको वारवार दुहरानेसे जैव शक्ति अत्यन्त उत्तेजित होकर भीषण प्रतिक्रिया करती है। ऐसे अवांछित परिणामसे बचनेके लिये प्रति वार दुहराते समय औषधकी शक्तिको कुछ बढा देनी चाहिए[1]।

२४८—औषधकी उसी अपरिवर्तित मात्राको एक वार भी दुहराना अव्यवहारिक है। उसीको वारंवार (और अविलंब रोगनाश करनेके लिये शीघ्र शीघ्र) दुहराना तो सर्वथा निन्दनीय है। ऐसी अपरिवर्तित मात्रा जैव शक्तिकी प्रतिक्रिया उत्पन्न किए विना नहीं रहती; और इस प्रतिक्रियामें औषधके वे लक्षण प्रकट होते हैं जिनका रोग-लक्षणोंसे सादृश्य नहीं होता। कारण यह है कि प्रथम मात्रासे ही जैव शक्तिमें वाञ्छित परिवर्तन हो जाता है तथा उसी अपरिवर्तित मात्राको दुहरानेके समय जैव

१—जैव शक्तिकी भीषण प्रतिक्रियासे ही बचानेके लिये ह्यानेमनने पंचम संस्करणमें इस सूत्रपर लम्बी टिप्पणी लिखी गई थी। उस समयके अनुभवोंके आधार पर ऐसा किया गया था। परंतु गत चार-पाँच वर्षोंमें मेरी परिवर्तित किन्तु पूर्णतया सिद्ध विधिद्वारा ये सब कठिनाइयाँ दूर हो गयीं। सावधानीसे निर्वाचित की गयी एक ही औषधको अब नित्य महीनों दे सकते हैं। इस प्रकार औषध प्रयोगकी विधि यह है; यथाः— एक दो सप्ताह पर्यन्त निम्न शक्तिकृत औषधका प्रयोग करके फिर चिर रोगोंकी चिकित्सामें क्रमशः उसी प्रकार उच्च, उच्चतर शक्तिका प्रयोग किया जाय। (इस संस्करणमें बतलाई गयी विधिके अनुसार औषध प्रयोगका प्रारंभ अत्यन्त निम्न शक्तिसे ही करना चाहिए)।

शक्तिकी परिस्थिति वैसी ही नहीं रह जाती, जैसी प्रथम मात्राका प्रयोग करते समय थी। अत अपरिवर्तित मात्राके पुन प्रयोगोंसे रोगीमें दूसरे-दूसरे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, अर्थात् रोगी अति रिक्त रोगसे पीडित हो जाता है, और पहलेसे अधिक अस्वस्थ हो जाता है। स्पष्ट ही है कि ऐसे प्रयोगोंसे औषधके उन्हीं लक्षणों की क्रिया होती है जो मूल रोगके लक्षणोंके सदृश नहीं होते, इस लिये रोगमुक्ति अग्रसर नहीं होती किन्तु रोगीकी दशामें वास्त विक वृद्धि हो जाती है। परन्तु यदि प्रति वार दुहरानेके पहले मात्राको परिवर्तित कर लिया जावे, अर्थात् उसकी शक्ति कुछ बढा ली जावे (सूत्र २६९-२७०), तो उसी औषधसे जीव शक्तिमें विना किसी उपद्रवके वाञ्छित परिवर्तन होता जाता है और फलत (प्राकृतिक रोगकी अनुभूति नष्ट होते होते) रोगमुक्ति निकट आती जाती है[1]।

१—यद्यपि औषध अत्यन्त सुनिर्वाचित हो और उसकी प्रथम अल्प मात्रा अर्थात् एक सूखी अणुवटिका लाभप्रद हुई हो, तथापि उसे दुह-राना नहीं चाहिये। उसी प्रकार यदि औषध जलमें गलाई गई हो और उसकी प्रथम मात्रासे लाभ हुआ हो, तो उसी औषधकी और छोटी मात्रामें, अथवा कुछ दिनके पश्चात् भी, विना शक्ति बढाए नहीं दुहराना चाहिये। इसका कोई प्रश्न नहीं है कि औषध किस शक्तिकी थी अथवा प्रथम मात्राका प्रयोग करनेके पहले गली हुई औषध हमारे पूर्व परामर्श-के अनुसार १० वार, अथवा पिछले परामर्शके अनुसार केवल २ वार हिला ली गई थी। अब हमारा निश्चित मत यह है कि प्रत्येक वार उसी मात्राको दुहराते समय उसकी शक्तिको बढा लेनी चाहिये। प्रति बार शक्ति बढाकर मात्राको वारवार दुहराना तथा उसकी शक्ति चाहे जितनी बढाकर दुहराना कदापि अनुचित नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि

२४८—शक्ति बढ़ाकर औषध दुहरानेकी विधि यह है। जिस जलमें औषध गलाई जावे[1] उसे मात्रा देनेके पहले ८, १०,

---

अत्यन्त सुनिर्वाचित सदृश विधानात्मक औषध जैव शक्तिसे दुर्व्यवस्थाको तभी दूर कर सकती है और चिर रोगोंका नाश तभी कर सकती है जब उसका प्रयोग अनेक भिन्न भिन्न रूपोंमें किया जाता है।

१—औषध द्रव इस प्रकार बनाया जाता है। नयी स्वच्छ शीशीमें ४०, ३०, २५, १५ अथवा ८ तोला (चम्मच) जल भर कर उसमें कुछ सुरासार अथवा कोयला छोड़ देना चाहिये। कोयलाको धागेसे शीशीमें लटका देना चाहिये कि वह जलमें रहे। जब शक्ति बढ़ानेके लिये शीशीको हिलाना हो तब उसमेंसे कोयला बाहर निकाल लेना चाहिये। औषध द्रव बनानेके लिये विधिवत् शक्तिकृत औषधमें भीगी हुई एक अणुवटिका उपर्युक्त शीशीके जलमें छोड़ देना चाहिये। इससे अधिक अणु वटिका छोड़ना कदापि आवश्यक नहीं। औषध द्रव इस प्रकार भी बनाया जा सकता है कि पहले ७–८ चम्मच (अथवा तोले) जलमें एक अणु वटिका गला ली जावे। उस जलको बलपूर्वक हिला कर शक्तिकृत कर लिया जावे। तब उसमेंसे एक चम्मच द्रव एक स्वच्छ ग्लासमें ७–८ तोले जलमें मिला दिया जावे। इस ग्लासके जलको भली भाँति हिला कर उसमेंसे एक अथवा दो चम्मचकी मात्रा रोगीको दी जा सकती है। यदि रोगीकी अनुभूति असाधारण है और यदि वह तनिकसी बातसे उत्तेजित हो जाता हो, तो ग्लासमेंसे एक चम्मच द्रव दूसरे ग्लाससे ७–८ चम्मच जलमें मिला दिया जावे और भली भाँति हिला कर दूसरे ग्लासमेंसे एक अथवा दो चम्मचकी मात्रा रोगीको दी जावे। कोई-कोई रोगी इतने अनुभूतिपूर्ण होते हैं कि तीसरे अथवा चौथे ग्लासमें इसी प्रकार औषध-द्रव बनाना आवश्यक होजाता है। इस प्रकारका औषध-द्रव नित्य नूतन बना लेना उत्तम होता है। उच्च शक्तिकी अणुवटिकाको कुछ

अथवा १२ बार बलपूर्वक हिलाना चाहिये, तब उसमेंसे एक तोलाकी मात्रा रोगीको देना चाहिये, एवं मात्रा भी प्रति बार कुछ बढाते जाना चाहिये। चिर रोगोंकी चिकित्सामें इस प्रकार नित्य अथवा प्रति दूसरे दिन मात्रा दुहराई जा सकती है। आशु रोगोंमें दोसे छः घण्टेमें, तथा भयावह रोगोंमें प्रति घण्टेमें अथवा और भी शीघ्र मात्रा दुहराई जा सकती है। इस विधिसे चिर रोगोंमें प्रत्येक सुनिर्वाचित औषध—दीर्घ काल तक क्रिया करने वाली औषध भी—नित्य प्रति महीनों दी जा सकती है। ऐसा करनेसे लाभ भी अधिक होता है।

जब औषध द्रव (एक दो सप्ताहमें) समाप्त हो जावे और यदि उस समय भी उसी औषधके लक्षण रोगीमें वर्तमान हों, तो उसी औषधकी उच्चतर शक्तिकी एक अथवा (क्वचित् ही) अधिक अणुवटिका जलमें गलाकर पुनः औषध-द्रव बना लेना चाहिये, तथा जबतक रोगीको लाभ होता जावे, अर्थात् जब तक नये अभूतपूर्व लक्षण न प्रकट हों, तब तक उपर्युक्त विधिसे उसकी मात्रा दुहराई जानी चाहिये। यदि अभूतपूर्व लक्षण प्रकट हों तथा रोगीके बचे हुए लक्षणसमूह परिवर्तित रोगका रूप धारण कर लें, तो उसके अनुरूप औषधका पुनः निर्वाचन कर लेना चाहिये, परन्तु इस बातका सदैव ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक बार मात्राको दुहरानेके पहले औषध द्रवको बलपूर्वक हिलाकर उसकी शक्ति कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित कर लेनी चाहिये। सुनिर्दिष्ट सदृश विधानात्मक औषधकी मात्रा इस प्रकार नित्य दुहराई जानेपर, चिर रोगोंकी चिकित्साके अन्तमें यदि तथा-

---

दुग्धशर्करामें पीसकर जलके आवश्यक परिमाणमें गलाकर पीनेके लिये रोगीको भी दे सकते हैं।

कथित सदृश विधानात्मक वृद्धि (सूत्र १६७) हो जावे, और रोगके बचे हुए लक्षण कुछ बढ़ेसे प्रतीत हों (वास्तवमें तो उस समय औषधजन्य सदृश कृत्रिम रोग ही शेष रह जाता है और प्रकट होता रहता है), तो उस अवस्थामें औषधकी मात्रा घटा देनी चाहिये तथा उसके दुहरानेका समय बढ़ा देना चाहिये। उस समय औषधप्रयोग कुछ समयके (दिनोंके) लिये स्थगित कर देना ही उत्तम होता है। तभी यह देखनेका अवसर प्राप्त होता है कि बिना औषध रोगी स्वास्थ्यकी ओर अग्रसर हो रहा है। सदृश विधानात्मक औषधके अति प्रयोगसे जो लक्षणसमूह प्रकट होता है, औषधप्रयोग स्थगित हो जानेसे वह स्वयमेव शीघ्र विनष्ट हो जाता है।

यदि सदृश विधानात्मक औषधकी एक अणुवटिका एक ड्राम सुरासार-मिश्रित जलमें गला ली जावे और उसे सुँघाकर चिकित्सा की जावे, तो भी प्रति बार सुँघानेके पहिले शीशीको बलपूर्वक हिलाकर उसके द्रवकी शक्तिको बढ़ा लेनी चाहिये।

२४६—किसी प्रस्तुत रोगीके लिये निर्वाचित औषध यदि अपने क्रिया-कालमें ऐसे नये एवं कष्टप्रद लक्षण उत्पन्न करे जिनका रोगसे संबन्ध न हो, तो वह औषध वास्तविक उपकार करनेमें समर्थ नहीं हो सकती[1]। ऐसी औषध सदृश विधानके अनुसार

१—अनुभव यही प्रमाणित करता है कि यदि निर्वाचित सदृश विधानात्मक औषध प्रस्तुत रोगीके लिये उपयुक्त है तो उसकी अल्पसे अल्प मात्रा भी प्रत्यक्ष उपशम करनेमें समर्थ होती है। अतएव सदृश विधानात्मक औषधकी मात्रासे यदि रोगमें किञ्चित् भी उपशम अथवा वृद्धि न हो, तो उसी औषधकी मात्राको दुहराना अथवा उसे बड़ी मात्रामें देना अविचारपूर्ण एवं हानिकारक है। पुरानी प्रथाके (एलोपैथिक)

सुनिर्वाचित नहीं समझी जा सकती। अतएव यदि नया लक्षण-समूह (वृद्धि) अति कष्टप्रद हो, तो उसकी (औषधकी) क्रियाको नष्ट करनेवाली औषध तुरन्त देकर पहले उसकी क्रियाको अंशतः नष्ट कर देना चाहिये, फिर लक्षणोंके अनुसार अधिक सदृश विधानात्मक औषधका निर्वाचन करना चाहिये। यदि नया लक्षण समूह अति कष्टप्रद एवं उग्र न हो, तो तुरन्त ही दूसरी अधिक उपयुक्त औषध दे देनी चाहिये। वह उस अनुपयुक्त औषधके क्रियास्थलको अपना क्रियास्थल बना लेगी[1]।

२५०—तुरन्त ध्यान देने योग्य रोगोंमें, औषधकी प्रथम मात्राका प्रयोग करनेके पश्चात् ६, ८, अथवा १२ घण्टेमें ही, रोगदशाका ठीक अनुसंधान करनेवाले तथा सावधानीसे निरीक्षण करनेवाले चिकित्सकको पता चल जाता है कि प्रयुक्त औषधके निर्वाचनमें उसने भूल की है। यदि औषध उपयुक्त नहीं होती, तो नये

चिकित्सक प्रायः ऐसा ही किया करते हैं, और यह सोचकर किया करते हैं कि उसकी पूर्व मात्रा छोटी होनेके कारण अपनी क्रिया नहीं कर सकी। सदृश विधानात्मक औषधकी अल्पाल्प मात्राका प्रयोग होनेपर, यदि संयम और पथ्यपालनमें किसी प्रकारकी गड़बड़ी न होते हुए नवीन लक्षण उत्पन्न होकर वृद्धि हो जावे, तो यही सिद्ध होता है कि प्रस्तुत रोगीके लिये प्रयुक्त औषध उपयुक्त नहीं थी, परन्तु उससे कदापि यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि औषधकी मात्रा बहुत छोटी थी।

१—बहुश्रुत तथा पूर्ण मनोयोगसे सावधान होकर कार्य करनेवाले चिकित्सक यदि अल्पाल्प मात्रासे रोगीकी चिकित्सा प्रारंभ करेंगे, तो उन्हें अपने अभ्यासमें किसी क्रियानाशक औषधके प्रयोगकी आवश्यकता ही न पड़ेगी। कारण यह है कि अधिक सुनिर्वाचित औषधकी वैसी ही अल्पाल्प मात्रा सम्पूर्ण शरीरयन्त्रको पुनः व्यवस्थित कर देती है।

नये लक्षणों और कष्टोसे रोगीकी दशामें कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष विकार होने लगता है, चाहे विकार सामान्य ही क्यों न हो। उसी समय अपनी भूल सुधारनेका चिकित्सकको अवसर ही नहीं हो जाता, वरन् उसका परम कर्तव्य हो जाता है कि रोगीकी वर्तमान दशाके अनुसार न केवल साधारणतया सदृश वरन् अत्यन्त सदृश औषधका पुन निर्वाचन करे।

२५१—कतिपय औषधोंकी—यथा इगनेशिया, ब्रायोनिया, रसटाक्स तथा कभी कभी वेलाडोनाकी—मानव स्वास्थ्य परिवर्तनकारी शक्तिसे पर्यायक्रमिक क्रियायें होती हैं, अर्थात् उनकी प्राथमिक क्रियामे परस्पर विरुद्ध लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतएव सदृश विधानके अनुसार निर्वाचित होनेपर भी, यदि उनमेसे किसी औषधकी प्रथम मात्रासे रोगीका कुछ भी उपकार न हो, तो (आशु रोगोंमें कतिपय घण्टोंके पश्चात् ही) वैसी ही अल्पमात्रा पुन दी जा सकती है और इस प्रकार चिकित्सक अपना उद्देश्य पूरा कर सकते हैं[१]।

(रोगीकी दशामें) उपकार प्रारम होनेके चिन्ह ।

२५२—परन्तु (कन्डुजन्य) चिर रोगोंमे (उपर्युक्त औषधोंके अतिरिक्त) अन्य औषधोंका प्रयोग करनेपर, यदि यह विदित हो कि सदृश विधानके सिद्धान्तोंके अनुसार सुनिर्वाचित होनेपर भी कन्डु विष नाशक औषधकी अत्यन्त उपयुक्त (अल्पाल्प) मात्रासे कुछ भी उपकार नहीं हो रहा है, तो यह निश्चित हो जाता है कि रोगको पोषण करनेवाला कारण वर्तमान है, तथा

१—जैसा कि "मैटीरिया. मेडिका प्योरा" नामक ग्रन्थके प्रथम भागमें 'इगनेशिया'की भूमिकामें वर्णन किया गया है।

रोगीके रहन-सहनमें कोई ऐसी बात अथवा परिस्थिति अवश्य है जिसे दूर किये बिना, रोगका सर्वथा नाश नहीं हो सकता।

२५३—सब रोगोंमें, विशेषतः आशु रोगोंमें, उपशम अथवा वृद्धिका प्रारंभ सबकी समझमें नहीं आसकता, उनके चिह्नोंको प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। रोगीके मनकी दशासे तथा उसके बर्तावसे यह बात निश्चित की जा सकती है कि रोगमें उपशमका अथवा वृद्धिका प्रारंभ हो गया। उपशमका अति अल्प आरंभ होते ही, रोगीकी मानसिक दशामें ऐसा परिवर्तन प्रतीत होने लगता है मानो वह अपनी स्वाभाविक (स्वस्थ) दशाकी ओर अग्रसर हो रहा है। रोगीकी आकृतिसे प्रत्यक्ष होने लगता है कि पहलेकी अपेक्षा वह कुछ सुख और शान्तिका अनुभव कर रहा है, उसका मन दुःखसे निवृत्त हो रहा है, एवं उसका अन्तःकरण प्रसन्न हो रहा है। इसी प्रकार वृद्धिका अति अल्प आरंभ होते ही, ठीक विपरीत चिह्न दिखाई पड़ते हैं; रोगीके स्वभाव और मनकी दशा, उसका बर्ताव और आचरण, उसकी आकृति और चेष्टा तथा उसकी क्रिया—सब—संकुचित, निःसहाय, तथा दयनीय हो जाती हैं। भली भाँति निरीक्षण करनेपर इस दशाका अनुभवमात्र किया जा सकता है, शब्दोंद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता[1]।

१—यदि प्रयुक्त मात्रा अत्यन्त अल्प रही हो, तो औषध-प्रयोग करनेके पश्चात् शीघ्र ही मन और स्वभावमें उपशमके [illegible] प्रत्यक्ष होने लगते हैं। अत्यंत उपयुक्त सदृश विधानात्मक औ[illegible] भी, यदि उसका प्रयोग अनावश्यक बड़ी मात्रामें किया जावे [illegible] उग्र रूपसे होती है, और वह रोगीके मन एवं स्[illegible] आक्रान्त किये रहती है, अत एव किसी प्रकारका [illegible]

२५४—यद्यपि कई रोगी अपने रोगके उपशम तथा वृद्धिका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं, अथवा उसे स्वीकार नहीं करना चाहते, तथापि अन्य नये लक्षणोंके प्रकट हो जानेपर अथवा वर्तमान लक्षणोंके बढ़ जानेपर वृद्धिका पता चल जाता है; इसके विपरीत होनेपर अर्थात् यदि कोई नया लक्षण नहीं उत्पन्न होता और वर्तमान लक्षण घटने लगते हैं, तो उपशमका पता चल जाता है। इस प्रकार ध्यानपूर्वक अनुसंधान और अवलोकन करनेवाले चिकित्सकके मनमें यदि वृद्धि तथा उपशम-संबन्धी सन्देह होता है तो वह शीघ्र ही दूर हो जाता है।

२५५—ऐसे रोगियोंके संबन्धमें उपशम और वृद्धिका निश्चय इस प्रकार हो सकता है। रोगका अनुसंधान करते समय, पहले जो लक्षण संग्रह लिपिबद्ध किया गया था, उसमेंसे प्रत्येक लक्षणके विषयमें रोगीसे पूछकर यह पता लगाया जा सकता है कि लिपिबद्ध लक्षणोंके अतिरिक्त कोई नया लक्षण तो नहीं उत्पन्न हुआ अथवा कोई लक्षण बढ़ तो नहीं गया। यदि ऐसा न हुआ

पाता। इस प्रसंगमें यह कह देना समुचित है कि सदृश विधानके अनुभवरहित एवं दम्भी चिकित्सक ही इस प्रधान नियमका उल्लङ्घन किया करते हैं। वे प्राचीन प्रथाके (एलोपैथिक) चिकित्सक भी, जो सदृश विधानमें दीक्षित हो जाते हैं, इस नियमका उल्लङ्घन किया करते हैं। अपने पुराने संस्कारोंके कारण अति निम्न शक्तिकृत औषधकी अत्यन्त अल्प मात्राको भी वे घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। अतएव सहस्रों बारके अनुभवद्वारा जो प्रयोगविधि अति लाभप्रद सिद्ध हो चुकी है उसका पूरा फल और लाभ उन्हें नहीं प्राप्त हो सकता। सदृश विधानसे जितना लाभ सम्भव है ऐसे चिकित्सक उतना सब लाभ रोगीको कदापि नहीं पहुँचा सकते। अत एव ऐसे चिकित्सकोंको सदृश विधानके अनुयायी कहलानेका भी अधिकार नहीं होता।

हो, और यदि रोगीकी मानसिक दशामें कुछ उपशम प्रत्यक्ष हो रहा हो, तो निश्चय हो जाता है कि औषधने रोगको कुछ घटाया है, अथवा यदि पर्याप्त समय नहीं व्यतीत हुआ है, तो शीघ्र ही घटा देगी। ऐसी परिस्थितिमें यदि उपशमको अग्रसर होकर प्रकट होनेमें बहुत विलम्ब लगे, तो यह समझना चाहिये कि रोगीका कोई आचरण उसमें बाधक हो रहा है अथवा अन्य कोई बाधक परिस्थिति वर्तमान है।

२५६—परन्तु यदि रोगी किसी नयी घटनाका होना अथवा नये लक्षणका प्रकट होना बतलावे, तो समझ लेना चाहिये कि औषध अत्यन्त सदृश विधानात्मक नहीं थी। फिर चाहे रोगी अपने सुस्वभावके कारण यह कहे कि उस लाभका अनुभव हो रहा है, (वक्षःस्थलीय क्षय-रोग-पीड़ित व्यक्ति प्रायः ऐसा कहते हैं) तो भी उनके कथनपर विश्वास नहीं करना चाहिये; किन्तु यही समझना चाहिये कि उसका रोग बढ़ गया। कुछ ही समयके पश्चात् उसके रोगकी वृद्धि पूर्णतया प्रत्यक्ष भी हो जाती है।

औषधोंके प्रति विशेष राग और द्वेष व्यर्थ ही होते हैं।

२५७—संयोगवश जिन औषधोंका प्रयोग प्रायः लाभदायक सिद्ध हुआ हो, तथा जिन औषधोंके प्रयोगसे बारबार सफलता प्राप्त हुई हो, सचिकित्सकोंको उनके प्रति विशेष राग नहीं हो जाता। कारण कि ऐसी औषधोंके प्रति विशेष राग हो जानेसे उनका ध्यान उन अन्य औषधोंके प्रति प्रायः नहीं जाता जो, नित्य प्रयोजनीय न होते हुए भी, अधिक उपयुक्त हो सकती हैं।

२५८—औषध निर्वाचन-कार्यमें (अपनी ही भूलसे) भ्रान्ति हो जानेके कारण जिन औषधोंका प्रयोग यदा-कदा निष्फल हो गया हो, उनके प्रति चिकित्सकको द्वेषभाव नहीं रखना चाहिए।

इसी प्रकार यदि अन्य (भ्रान्त) कारणोंसे कोई औषध किसी रोगीके लिये उपयुक्त सदृश विधानात्मक न सिद्ध हुई हो, तो चिकित्सकको उस औषधका प्रयोग करना ही न छोड़ देना चाहिए। यह सत्य सर्वदा स्मरणीय है कि जिस औषधके लक्षणोंमें रोगीके मुख्य लक्षणसमूहका निकटतम सादृश्य वर्तमान हो, उस रोगीके लिये वही औषध अत्यन्त उपादेय है। अतएव औषधकी उपादेयताके संबन्धमें अपने गम्भीर निर्णयको क्षुद्र रागद्वेषसे कभी दूषित नहीं होने देना चाहिए।

चिर रोग-चिकित्सामें पथ्यापथ्य-विचार।

२५६—सदृश विधानात्मक चिकित्सामें औषधकी अत्यन्त अल्प मात्रा ही आवश्यक और उपयुक्त होती है। मात्राकी अल्पताका विचार करते हुए, यह समझ लेना कठिन नहीं होता कि चिकित्साके समय रोगीके आहार-विहारमें औषध-सम प्रभाव करनेवाली वस्तुओंका सर्वथा परित्याग होना चाहिये। औषध-सम प्रभाव करनेवाले उत्तेजक पदार्थ[1] सदृश विधानात्मक औषधकी अल्प मात्राको दवा सकते हैं, नष्ट कर सकते हैं तथा औषध-क्रियामें बाधक हो सकते हैं।

२६०—अत एव चिर रोगपीड़ित रोगियोंके नीरोग होनेमें इस प्रकारकी बाधाओंका भी अनुसंधान करना परमावश्यक है, कारण

१—प्रशान्त निशीथमें सुदूर मधुर संगीत कोमल हृदयको प्रेरित करके धार्मिक भावमें मग्न कर सकता है; परन्तु वही संगीत दिनमें रागरहित कलरवके कारण श्रवणपथमें भी नहीं आता और उसका कोई प्रभाव नहीं होता।

कि ऐसे हानिकर प्रभावों एव रोगजनक कुपथ्योंसे— जिनपर प्राय ध्यान नहीं दिया जाता—चिर रोगोंकी वृद्धि हो जाया करती है[1]।

२६१—चिर रोगोंकी चिकित्सा होते समय रोगनाशमें बाधा उत्पन्न करनेवाली सब वस्तुओंका परित्याग कर देना चाहिये, तथा आवश्यकतानुसार उनके विपरीत गुण करनेवाली वस्तुओंका

१—काफी, चाय, औषध प्रयुक्त आसव जो रोगियोंके लिये कदापि हितकर नहीं होते, औषधिसहित बनाए गए मदिरादि पेय, औषधि डालकर बनाई गई मिठाइया, सुगधित जल, अनेक प्रकारके सुगधित द्रव, शयनागारमें सुगधित पुष्प, दन्तमञ्जन, मसालायुक्त पक्वान्न, चरफ और चटनी आदि, औषधगुणयुक्त हरे शाक, कद, मूल, फल आदि, मूली, लहसन, प्याज, हरी धनियाँ, पुदीना, पुरानी पनीर, तथा बासी मास रोगियोंके लिये कुपथ्य हैं। इसी प्रकार अधिक भोजन, अधिक मीठा, अधिक लवण, मदिरापान, उष्ण शयन-गृह, त्वचापर ऊनी वस्त्र पहनना, सर्वदा बद घरम रहना, घोड़ेपर चढना, तैरना, अधिक निर्तिक स्तन पान, सर्वदा बिछौनेपर लेटे रहना, रातमें बहुत जागना, गदे रहना, अस्वाभाविक मैथुन, अश्लील पुस्तकें पढना, लेटकर पढना, हस्त मैथुन, गर्भाधान बचानेके लिये अपूर्ण मैथुन, क्रोध, शोक, व्यग्रता, कामकेलि, अतिशय मानसिक अथवा शारीरिक परिश्रम, भोजन करनेके पश्चात् मानसिक अथवा शारीरिक परिश्रम, जलप्लावित आर्द्र प्रदेशों अथवा गृहोंमे निवास, दरिद्रतापूर्ण जीवन आदि हानिकर और रोगजनक प्रभाव करते है। इन कारणोंसे रोगनाश होनेमें बाधा और विलम्ब होता है। अत एव इनका परित्याग कर देना चाहिये।

मेरे अनुयायियोंने इस सम्बन्धमें अनेक प्रकारके अनावश्यक नियम बनाकर तथा अनेक अहानिकर एव उपादेय पथ्योंकी निंदा करके बड़ी कठिनाइया प्रस्तुत करदी हैं।

(आहार-विहारादिका) सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अहानिकर नैतिक और बौद्धिक मनोरञ्जन, ऋतुके अनुसार खुली वायुमें घूमना आदि अल्प शारीरिक श्रम, तथा उपयुक्त पोषक एव औपधगुणरहित आहार और पेय चिर रोग-चिकित्सा काल मे सर्वोत्तम पथ्य हैं।

आशु रोगोंमें पथ्य-विचार।

२६२—उन्माद आदि मानसिक विकारोंके अतिरिक्त अन्य आशुरोगोंमे तो, जीवनकी रक्षाके लिये तत्पर, निर्भ्रान्त, आन्तरिक, एव सूक्ष्म अन्त करणकी (जैव शक्तिकी) वृत्ति पथ्यके सवन्धमें स्वय स्पष्ट और समुचित निर्णय कर देती ह। अत रोगीके मित्रों और परिचारकोंको यह परामर्श दे देना समुचित है कि रोगी जिस वस्तुको आमहपूर्वक माँगे उसे प्राकृतिक कामना समझना चाहिये और उसकी पूर्ति कर देना चाहिये, तथा किसी हानिकारक वस्तुको ग्रहण करनेका आग्रह कदापि न करना चाहिये।

२६३—आशु रोगग्रस्त रोगियोंकी भोजन पेय सवन्धी कामनाएँ वास्तवमे ऐसी वस्तुओंके लिये हुआ करती हैं जिनसे उनके क्लेशमे अस्थायी उपशम हो, उनकी अभिलाष औषध-सबन्धी नहीं हुआ करती, सच पूछो तो ये इच्छाएँ केवल किसी आवश्यकताकी पूर्तिमात्रके लिये होती हैं। ऐसी सीमित कामनाओंकी पूर्तिसे रोगके समूल नाश होनेमे यदि कुछ नगण्य बाधा भी हो[1],

---

१—प्राय ऐसी बाधा कभी नहीं होती, यथा प्रदाहसम्बंधी रोगों म एकोनाइटकी आवश्यकता हुआ करती है, एकोनाइटका क्रिया नाशक है वनस्पतिका अम्ल, परन्तु रोगी केवल जलकी कामना करता है, अम्लकी

तो सदृश विधानकी उपयुक्त औषधकी शक्ति तथा उससे युक्त की गई रोगीकी जैवशक्ति उस बाधाका निराकरण और निवारण कर डालती हैं। अभिलापकी पूर्त्ति होनेसे रोगीका मन प्रसन्न हो जाता है और मनकी प्रसन्नतासे भी ऐसी नगण्य बाधाएँ विनष्ट हो जाती हैं। आशु रोगोंमें रोगीके शयनागार और ओढ़ने-बिछाने-के वस्त्र उसकी इच्छाके अनुकूल उष्ण अथवा शीतल कर देना चाहिये। रोगीको सब प्रकारके मानसिक श्रमसे तथा उग्र भावो-द्वेगोंसे बचाये रखना चाहिये।

अत्यन्त विशुद्ध एवं शक्तिशाली औषधोंका ही संग्रह करना चाहिए।

२६४—चिकित्सकोंके पास ऐसी ही औषधोंका संग्रह होना चाहिए जो विशुद्ध हों और जिनकी शक्ति नष्ट न हो गयी हो, कारण कि ऐसी ही औषधोंकी रोगनाशक शक्तिपर भरोसा किया जा सकता है। औषधकी विशुद्धताका निर्णय स्वयं करलेनेकी क्षमता चिकित्सकमें अवश्य होना चाहिए।

२६५—प्रत्येक प्रस्तुत रोगके संबन्धमें चिकित्सकको पूर्णतया निश्चय हो जाना चाहिए कि रोगीको सर्वदा विशुद्ध औषध सेवन कराई जाती है। चिकित्सकका यह नैतिक कर्त्तव्य है। अत एव रोगीको सुनिर्वाचित औषध (तथा) सभवतः अपनीही बनायी हुई (औषध) देनी चाहिए।

२६६—प्राणिवर्गके तथा वनस्पतिवर्गके बिना पकाए हुए

नहीं। अत एव उसकी इच्छानुसार जल देनेसे रोगके समूल नाश होनेमें कोई बाधा नहीं हो सक्ती।

पदार्थोंमें उनके औषधगुण पूर्ण रूपसे वर्तमान रहते हैं।[1]

टटकी वनस्पतियोंसे अत्यन्त शक्तियुक्त तथा बहुत समय तक टिकनेवाली औषध बनानेकी विधि।

२६७—जो वनस्पतियां देश में उत्पन्न होती हैं तथा जो टटकी अवस्थामें प्राप्त हो सकती हैं उनके तुरन्त निकाले हुए रसोंको, समभाग सुरासार मिलाकर, एक दिन और एक रातके लिये शीशीमें बन्द करके रख देना चाहिए। चौबीस घण्टेमें वनस्पति-रसका अण्डश्वेतके सदृश भाग तथा उसका कास्थारा शीशीमें नीचे बैठ जाता है। उस तलछटके ऊपर स्थिर हुए स्वच्छ तरल द्रवको तब दूसरी शीशीमें सावधानीसे ढाल लेना चाहिए। यह द्रव उस वनस्पतिका औषध-द्रव बन जाता है, और औषधकी भाँति काममें लाया जा सकता है[2]। सुरासार मिला देनेसे वनस्पतिरसकी सड़न

१—प्राणिवर्गके तथा वनस्पतिवर्गके सभी पदार्थोंमें जबतक वे पकाए नहीं जाते, न्यूनाधिक औषधगुण वर्तमान रहते हैं। वे पदार्थ मानव स्वास्थ्यमें अपने अपने अनुरूप परिवर्तन कर सकते हैं। मानव समाज प्राणिवर्गके तथा वनस्पति वर्गके अनेक पदार्थोंका आहार करते हैं कारण कि अन्य वैसे ही पदार्थोंकी अपेक्षा उनमें पोषक तत्त्व अधिक होते हैं, तथा औषधगुण बहुत कम होते हैं। उन पदार्थोंको पकानेपर उनके औषध-गुण प्राय नष्ट हो जाते हैं, पाककी विविध क्रियासे तो औषध गुण सर्वथा नष्ट ही हो जाते हैं। उनम लवण और खटाई मिला देनेसे तो उनके हानिकारक औषध-गुण भी बहुत नष्ट हो जाते हैं तथा उनम अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जिन वनस्पतियोंमें उग्र औषध-गुण होता है उन्हें भी पका देनेपर, पाचनकी विविध क्रियाओंद्वारा उनका औषध-गुण विनष्टप्राय हो जाता है।

२—इस प्रकार सुरक्षित रूपमें औषध प्रस्तुत करनेकी विधिका आवि-

उसी समय रुक जाती है और भविष्यमें भी नहीं होती। इस प्रकार बनाए गए औषधद्रवमें वनस्पतिका पूर्ण गुण सर्वदाके लिये सुरक्षित हो जाता है। जिस शीशीमें औषधद्रव रखा जावे उसके मुखको काग लगाकर भली भाँति बन्द कर देना चाहिए, तथा मोमसे उसे इस प्रकार सुरक्षित कर देना चाहिए कि औषधद्रव न तो उड़ सके और न उसमें सूर्यकी किरणोंका ही प्रवेश हो सके[1]।

प्रकार संसारमें सर्वप्रथम मैंने ही किया, और 'आर्गेनन' के प्रथम संस्करणमें इसका वर्णन भी कर दिया था। उसके दो वर्ष पश्चात् रूसमें इस विधिका प्रचार हुआ। वनस्पतियों अथवा वनस्पति-रसको कुछ कालतक सुरक्षित रखनेके लिये,(अर्थात् उनका सार खींचनेके हेतु उसे कुछ कालतक सुरक्षित रखनेके लिये) पहले भी सुरासार मिलाया जाता था, परन्तु इस रूपमें प्रयोग करने योग्य औषध बनानेके निमित्त नहीं मिलाया जाता था।

१—वनस्पति-रसोंके आयडश्वेतांश और काष्ठांशको तलछट रूपमें नीचे बैठानेके लिये उनमें समभाग सुरासार मिलाना पर्याप्त होता है, परन्तु जिन पौधोंमें गाढ़ा श्लेष्मिक पदार्थ अधिक होता है (यथा सिम्फायटम, वायला ट्रिकलर आदि) अथवा जिनमें आयडश्वेतांश अधिक होता है (यथा एथूजा, सोलेनम आदि) उनके इन भागोंको तलछट रूपमें नीचे बैठानेके लिये दूना सुरासार मिलाना चाहिए।

जिन पौधोंमें रसका अभाव होता है उन्हें कूट-पीसकर, पहले, सने हुए आँटेकी लोईके सदृश बना लेना चाहिए। फिर द्विगुण सुरासारमें मिलाकर हिलाना चाहिए। इस क्रियासे औषधका रस निकलकर सुरासारमें मिल जाता है। उसे छानकर निकाल लिया जा सकता है।

जो वनस्पतियाँ सूखी हों, उनके चूर्णको दुग्ध-शर्कराके साथ पीसकर शक्तिकरण विधिसे दश-लक्षांश शेष शक्तिकृतकर लेना चाहिए। फिर उन्हें पानी अथवा सुरासारमें गलाकर और आगे शक्तिकृत करना चाहिए। (देखिये सूत्र २७१)

सूखी वनस्पतियाँ।

२६८—जो वनस्पति विदेशसे आती हैं अत एव नूतन आर्द्र रूपमें नहीं मिल सकतीं, उनको, उनकी छालको, फलको अथवा मूलको, बुद्धिमान चिकित्सक दूसरेके विश्वासपर चूर्ण रूपमें कभी नहीं लेते। ऐसी औषधियोंको औषधरूपमें प्रयोग करनेके पहले उन्हें समूची अवस्थामें देखकर उनकी विशुद्धताके विषयमें अपना मन भर लेना चाहिए[1]।

१—वनस्पति-चूर्णको सुरक्षित रखनेके लिये जिस विशेष सावधानीके विधानकी आवश्यकता होती है, पंसारी तथा औषधि चूर्णके व्यापारी आजतक उस विधानकी अवहेलना करते रहे। इसी कारण भलीभाति सुखाई हुई वनस्पतिके और माणिवर्गके पदार्थोंके चूर्णको बोतलोंमें भली भांति मुख बन्द करके रखनेपर भी वे सुरक्षित नहीं रहते। अत्यन्त शुष्क हो जानेपर भी समूचे वनस्पति-पदार्थोंमें कुछ-न-कुछ आर्द्रता अवश्य रहती है। उसी आर्द्रताके कारण उनके कण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते। उसी सूक्ष्म आर्द्रताके कारण उनके चूर्ण इतने शुष्क नहीं हो जाते कि वे सुरक्षित रह सकें, और उनमें विकार उत्पन्न न हो सके। उतनी आर्द्रता चूर्णको विकृत कर देनेके लिये पर्याप्त है। अत एव प्राणिवर्ग और वनस्पति वर्गके पदार्थ यद्यपि समूची अवस्थामें भली भाति सूख गए हों, तथापि उनका चूर्ण बनानेपर उस चूर्णमें आर्द्रताका कुछ-न-कुछ अंश वर्तमान ही रहता है। यद्यपि उस तनिकसी आर्द्रताके कारण चूर्ण शीघ्र ही नहीं बिगड़ जाता, तथापि यदि उस आर्द्रताको दूर किये बिना ही उसे बोतलोंमें बन्द कर दिया जावे, तो वह चूर्ण सुरक्षित नहीं रह सकता। उस आर्द्रताको दूर करनेकी उत्तम विधि यह है कि कुछ ऊँची किनारवाली टीनकी थालीमें चूर्णको फैला देना चाहिए और उस बरतनको खौलते हुए जलपर तैरा

कच्चे (अपरिणत) औपचारिक द्रव्योंकी रोगनाशक शक्तियों-का पूर्ण विकास करनेके लिये सदृश विधानकी विशेष विधि।

२६६—कच्चे औपचारिक द्रव्योंकी आन्तरिक रोगनाशक शक्तियोंका अदृष्टपूर्व सीमातक विकास करनेके लिये सदृश चिकित्सा-विधानकी अपनी एक विशेष विधि है। इस विधिका प्रयोग अबतक किसीने नहीं किया था। इस विधिसे द्रव्योंका प्रभाव गहरा और अपरिमित हो जाता है[1]। प्राकृतिक (अपरि-

---

देना चाहिए; फिर चूर्णको सावधानीसे चलाते-चलाते इतना सुखा लेना चाहिए कि उसके कण-कण जो आपसमें मिले रहते हैं सूखी झीनी रेतके सदृश एक दूसरेसे पृथक् हो जावें। इस प्रकार सुखा लेनेपर, और बोतलोंमें भरकर एवं कागसे मुख बन्द करके सील लगा देनेपर, चूर्ण कभी बिगड़ नहीं सकता, उसमें कीड़ और घुन आदि नहीं लगने पाते और उसकी औषध-शक्ति सर्वदा सुरक्षित रहती है। यदि बोतलोंको पेटिकामें बन्द करके सूर्यके प्रकाशसे भी उन्हें सुरक्षित रखा जावे तो और भी उत्तम होता है।

वनस्पति और प्राणिवर्गके पदार्थोंको वायुरहित बर्तनोंमें भरकर भी यदि दिनके और सूर्यके प्रकाशसे उनको बचाया न जावे, तो समूची अवस्थामें होनेपर भी शनैः शनैः उनके औषध-गुण नष्ट हो जाते हैं, चूर्णीकृत अवस्थामें तो कहना ही क्या है?

१—मेरे इस आविष्कारके बहुत पहले, लोकमें यह अनुभव हो गया था कि संघर्षद्वारा प्राकृतिक द्रव्योंमें कई विधिसे परिवर्तन किये जा सकते हैं, यथा उष्ण करनेसे, तापसे, अग्निसे, गंधहीन द्रव्योंमें गंध उत्पन्न कर देनेसे तथा लोहेको चुम्बक बना देने आदिसे। इस प्रकार संघर्षद्वारा द्रव्योंमें जो गुण उत्पन्न किये जाते हैं वे सब उनके जड़ भाग तक ही सीमित रहते हैं। परन्तु यह नियम प्राकृतिक है। इसके द्वारा द्रव्योंके भौतिक स्वरूपका

गत) अवस्थामें जो द्रव्य मानव स्वास्थ्यपर किसी प्रकारका औपचारिक प्रभाव नहीं कर सकते, उनकी भी रोगनाशक शक्तियोंका विकास इस विधिसे हो जाता है। प्राकृतिक पदार्थोंके गुणोंमें इस विधिसे विशेष एवं ध्यानाकर्षक परिवर्तन हो जाता है जिससे उनकी छिपी हुई, आन्तरिक, प्रसुप्त एवं अदृष्टपूर्व शक्तियोंका

परिवर्तन हो जाता है तथा उनकी शारीरिक एवं रोगजनक क्रियाओंमें परिवर्तन हो जाता है। द्रव्योंको पीसने और हिलानेसे यह परिवर्तन होता है, परन्तु निश्चित परिमाणमें गुणहीन वाहक द्रव्योंको मिलाकर पीसने और हिलानेसे ही होता है। प्रकृतिके इस अद्भुत भौतिक, आवयविक और रोगजनक नियमका आविष्कार इसके पहले किसीने नहीं किया। अत एव आधुनिक प्रकृतिके विद्यार्थी और चिकित्सक, जिन्हें इसका परिचय नहीं है, सदृश विधानके नियमानुसार बनाई हुई औषधकी अल्पाल्प मात्रापर तथा उसकी चकित कर देनेवाली रोगहारिणी शक्तिपर यदि विश्वास न कर सकें तो कोई आश्चर्य नहीं है।

१—ठीक यही बात साधारण लोहे और कड़े लोहेमें पायी जाती है। यह मानना ही पड़ता है कि उनमें चुंबक-शक्ति प्रसुप्त (निष्क्रिय) अवस्थामें छिपी रहती है। जिस समय उनको निहाईपर पीटकर सीधा किया जाता है उस समय दोनों सीधे खड़े हो जाते हैं, निचले भागसे चुम्बक-सुईकी उत्तरीय नोकको विकर्षित करके उसकी दक्षिणी नोकको वे अपनी ओर आकर्षित करते हैं, यहाँ तक कि चुम्बक-सुईकी उत्तरीय नोक दक्षिणी नोक बन जाती है। परन्तु यह प्रतिबिम्बित शक्ति है। जबतक उनमें चुम्बक-शक्तिका विकास नहीं हो जाता, तबतक वे लोहेके अन्य सूक्ष्म कणोंको भी आकर्षित और विकर्षित नहीं कर सकते।

परन्तु जब चिकनी रेतीसे एक ही ओरको रगड़-रगड़कर लोहेके ... को शक्तियुक्त कर दिया जाता है, तब यह दृढ़ शक्तिशाली ...

(सूत्र ११) विकास हो जाता है। ये शक्तियाँ जैव शक्तिको प्रभावित करती हैं तथा प्राणियोंके[1] स्वास्थ्यमें परिवर्तन कर देती हैं। पदार्थोंको पीसकर, हिलाकर और उनमें सूखा अथवा तरल वाहक द्रव्य मिलाकर उनके अल्पाल्प कणोंको पृथक् पृथक् कर दिया जाता है। इससे उनपर जो यान्त्रिक क्रिया होती है उससे

चुम्बक बन जाती है, तथा दूसरे लोह और वह लोहको अपनी ओर खींच लेती है और उन्हें चुम्बक बना देती है। लोहेकी छड़को जितना अधिक रगड़ा जावे उतनी ही अधिक चुम्बक-शक्ति वह दूसरे लोहको प्रदान करती है।

इसी प्रकार औपचारिक पदार्थोंको (औषधियोंको) शक्तिकरणकी विधिसे पीसकर अथवा उनके द्रवको हिलाकर उनके भीतर छिपी हुई औषध शक्तिको विकसित किया जाता है। विकसित होते होते अधिकाधिक शक्ति प्रकट होती है और फिर जड़ औषधि चिन्मय रूपमें परिवर्तित हो जाती है।

१—इसका कारण यही है कि प्रबल विकाससे उनकी आन्तरिक शक्तियाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि वे उस उन्नत अवस्थामें प्राणियों और मनुष्योंके अनुभूतियुक्त जीवित तन्तुओंके अति निकट एवं (पीने अथवा सूँघनेसे) सम्पर्कमें आते ही, उनके स्वास्थ्यमें परिवर्तन कर देती है। जिस प्रकार चुम्बक लोहके छड़की चुम्बकशक्ति, परिवर्द्धित हो जानेपर भी, निकटवर्ती अथवा सम्पर्कमें आई हुई लोहेकी ही सुईपर अपना प्रभाव कर सकती है, अन्य धातुओंपर (यथा पीतल, ताम्बा आदिपर) कुछ भी प्रभाव नहीं कर सकती, तथा प्रभाव करनेपर भी लोहके अन्य गुण जैसेके-तैसे बने रहते हैं, ठीक उसी प्रकार शक्तिकृत औषध निर्जीव पदार्थोंपर कोई क्रिया नहीं कर सकती, और उनका प्रभाव केवल सदृश लक्षण अथवा विकारयुक्त अंगोंपर (भागोंपर) ही होता है अन्यपर नहीं।

उनकी शक्तियोंका विकास हो जाता है। इस क्रियाको शक्तिकरण विधि कहते हैं। इसके द्वारा पदार्थोंको भिन्न भिन्न सीमा तक शक्तिकृत किया जा सकता है। इस प्रकार शक्तिकरण विधिसे जब पदार्थोंकी शक्तिका विकास हो जाता है, तब वे शक्तिमात्र शेष रह जाते हैं और उन्हें उन पदार्थ की अमुक शक्ति कहते हैं[1]।

२७०—औषध द्रव्यकी शक्तिका विकास करनेकी सर्वोत्तम विधि यह है। जिस द्रव्यको शक्तिकृत करना हो उसके अल्प भागको (यथा एक रत्तीको) तीनसौगुनी (यथा ०० रत्ती) दुग्ध शर्कराके साथ तीन घण्टे तक अधोवर्णित विधिसे[2] खरल करना

१— सदृश विधानात्मक शक्तिकृत औषधोंको (शक्तियोंको) लोकम 'डायलूशन' (dilution) कहते हैं। परन्तु डायलूशन शब्द भ्रामक है। डायलूशनका अर्थ है जलमिश्रित पदार्थ, अथवा वह जल जिसम पदार्थ घुला हो। सदृश विधानात्मक शक्तिकृत पदार्थ केवल घुले हुए नहीं होते। किन्तु इसके विपरीत शक्तिकरण प्राकृतिक पदार्थोंको पीसकर अथवा हिलाकर वास्तवमें उनकी छिपी हुई आन्तरिक शक्तिका उद्घाटन करना है, उसे प्रकाशमें लाता है और प्रकट करता है। शक्तिकरणके निमित्त वाहक द्रव्यका प्रयोग गौण विषय है।

उदाहरणके लिए, एक रत्ती लवणको कुछ पानीमें घोल दीजिये। लवण घुलकर पानी हो जाता है। उसमें और पानी मिला देनसे लवण अदृश्य हो जाता है। यह डायलूशन है। इसमें कोई औषधिक शक्ति नहीं होती। परन्तु सदृश विधानके अनुसार एक रत्ती लवणको शक्तिकृत करनेपर जो द्रव्य प्रस्तुत होता है उसमें औषधिक शक्ति और अद्भुत औषधिक शक्ति होता है।

२—चिकने पत्थरके खरलको गोनी रेतसे माँजकर पहले स्वच्छ कर लेना चाहिए। तब उसमें १०० रत्ती दुग्धशर्कराका तृतीय भाग छोड़कर

चाहिए। इस प्रकार जो विचूर्ण प्रस्तुत होता है उसमें उस औषध-द्रव्यका दशलक्षांश भाग रह जाता है। आगे बताए गये कारणों-से इस विचूर्णकी एक रत्तीको ४०० बूंद परिस्रुत जल तथा १०० बूंद सुरासारके मिश्रणमें गला दिया जाता है। उस औषध

उसीपर औषध-द्रव्यका एक रत्ती चूर्ण अथवा एक बूँद द्रव, यथा, पारा, पेट्रौल आदि छोड़ देना चाहिए। शक्तिकरणके लिये अत्यन्त विशुद्ध दुग्धशर्कराका ही प्रयोग करना चाहिए। चिकने पत्थरके विशुद्ध (Spatula)दर्विलेसे खरलमें दुग्धशर्करा और औषध-द्रव्यको भली भाँति पहले मिलाकर चिकने पत्थरके विशुद्ध बट्टे से ६-७ मिनिट तक बल-पूर्वक खरल करना चाहिए। तब ३-४ मिनिट तक खरलकी पेंदी और बट्टे में चिपके हुए विचूर्णको खुरचना चाहिए और मिलाकर एकत्र कर देना चाहिये। फिर बिना कुछ मिलाए उसे ६-७ मिनिट तक बलपूर्वक खरल करना चाहिए और तब ३-४ मिनिट तक खुरचना चाहिए। तब सबको एकत्र करके उसमें १०० रत्ती दुग्धशर्कराके दूसरे तृतीयांशको मिलाकर ६-७ मिनिट तक खरल करना चाहिए और फिर ३ ४ मिनट तक खुरचना चाहिये। पुनः इसी प्रकार खरल करना और खुरचना चाहिए। तब उसमें १०० रत्तीका शेष तृतीयांश मिलाकर फिर इसी प्रकार दो बार छ-छ, सात-सात मिनिट तक खरल करना और तीन-तीन, चार-चार मिनिट तक खुरचना चाहिये। तब उसे एक शीशीमें भरकर काग़से भली भाँति बन्द कर देना चाहिए। उसपर औषध-द्रव्यका नाम तथा $\overline{१००}$ (शतांशशेष) लिख देना चाहिए। फिर उसे ऐसे सुरक्षित स्थानमें रख देना चाहिये जहाँ वह सूर्यकी किरणोंसे सुरक्षित रहे।

अब इस विचूर्णको $\overline{१००००}$ (दश सहस्रांश शेष) करनेके लिये, $\overline{१००}$ (शतांश-शेष) विचूर्णकी एक रत्तीको १०० रत्ती दुग्धशर्कराके तृतीयांशके साथ उपर्युक्त विधिसे पुन. खरल करना चाहिये और इस

मिश्रित द्रवका एक बूद तथा १०० बूद विशुद्ध सुरासार एक शीशीमें भरकर कागसे बंद कर दिया जाता है। शीशी इतनी बड़ी होनी चाहिए कि उसका तृतीय भाग रिक्त रहे। तब उस शीशीको हाथसे पकडे पकड़े, पेंदीके बल, किसी लचीली ठोस वस्तु-

---

प्रकार १०० रत्ती दुग्धशर्कराके दूसरे और तीसरे तृतीयाशके साथ खरल करना और खुरचना चाहिए। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि दो बार खरल करके और खुरच करके ही दुग्ध शर्कराका दूसरा और तीसरा तृतीयाश मिलाया जावे, तथा प्रत्येक बार ६ ७ मिनिट तक खरल करना चाहिए और ३-४ मिनिट तक खुरचना चाहिये। तब उस विचूर्णको शीशीम बन्द करके तथा उस पर १०००० (दशसहस्राश-शेष) लिख देना चाहिए।

अन्तमें इस दशसहस्राश-शेष विचूर्णकी एक रत्तीको पुन उपर्युक्त विधिसे १०० रत्ती दुग्धशर्कराके साथ खरल किया जावे और खुरचा जावे, तो १/१००००००दशलक्षाश शेप विचूर्ण बन जावेगा। इसे प्रथम क्रमका विचूर्ण अन्ति करना चाहिए। उसकी प्रति रत्तीमें दश लक्षवा भाग औषध द्रव्य रहता है।

इस प्रकार किसी औषधद्रव्यको एक बार शक्तिकृत करनेम एक घण्टे-का समय लगता है। प्रथम बार बने विचूर्णके प्रत्येक भागमें औषधद्रव्य का १/१०० वा भाग रहता है, द्वितीय बारमें १/१०००० वा भाग, और तृतीय बारम १/१०००००० वा भाग रह जाता है। दूसरी औषध को शक्तिकृत करनेके पहले खरल, बट्टे और दबिलेको उष्ण जलसे धोकर उन्हें खौलते पानीम आध घण्टे तक उबालकर, लकड़ीके दहकते कोयले पर कुछ समय रखकर सुखा लेना चाहिये।

पर (यथा चमड़ेसे मढ़ी हुई पुस्तकपर) बलपूर्वक १०० वार पटकना चाहिए। अब यह उस औषध द्रव्यकी प्रथम शक्ति बन गई। शर्कराकी छोटी छोटी गोलियोंको[1] इस प्रथम शक्तिमें भिगा कर स्वच्छ शोषक कागजपर फैलाकर तुरन्त ही सुखा लेना चाहिए, तथा एक शीशीमे भरकर कागसे उसका मुख बन्द कर देना चाहिए। उस शीशीके कागपर औषध द्रव्यका नाम तथा प्रथम शक्तिसूचक १ अंक लिख देना चाहिए।

शक्तिका अधिक विकास करनेके लिये प्रथम शक्तिकी केवल एक गोलीका[2] दूसरी नयी शीशीमें एक बूंद जलमें गलाकर

१—ये गोलियाँ इतनी छोटी होनी चाहिए कि १०० गोलोंका तौल एक रत्ती हो।

२—इसके पूर्व मेरा आदेश यह था कि शक्ति बढानेके लिये पूर्व शक्तिक सुरासारमय द्रवके एक बूंदको १०० बूंद सुरासारमे मिलाकर उसे १०० वार बलपूर्वक पटककर हिलाना चाहिए। परन्तु इस प्रकार करने से शक्तिकरण सीमित रहता है तथा वाञ्छित सामातक शक्तिकरण करनेमे बहुत अधिक श्रम करना पड़ता है।

अत एव, यदि ऐसी एक गोलीको एक बूंद जलमें गलाकर १०० बूंद सुरासारके साथ शक्तिकृत किया जावे तो १:०० १ अनुपातकी अपेक्षा ५०००० १ से भी कुछ अधिक अनुपात हो जाता है। कारण यह है कि एक बूंद एसी ५०० गोलियोंको भिगा देनेके लिये पर्याप्त होता है। औषध तथा वाहक द्रवका इतना अधिक अनुपात होनेके कारण जब उनका मिश्रण शीशीमें दोतिहाई भरकर १०० वार पटका जाता है, तो शक्तिका बहुत अधिक विकास हो जाता है। १०० १ अनुपातमें शक्तिकरण करनेसे यद्यपि शक्तिका विकास होता है तथापि उच्च शक्तिकृत औषधका प्रयोग करते ही भीषण, उग्र एवं भयानक फल होता है। दुर्बल व्यक्तियों

तथा उसमें १०० बूँद सुरासार छोड़कर, शीशीको पहलेके समान हथेली अथवा अन्य लचीली वस्तुपर १०० बार बलपूर्वक पटकना चाहिए जिससे शीशीका द्रव भली भाँति हिल जावे और कण-कण आपसमें मिल जावें। अब इस सुरासारयुक्त द्रवमें पुन छोटी छोटी गोलियोंको भिगाकर उन्हें शोषक कागजपर फैलाकर तुरन्त सुखा लेना चाहिए। फिर शीशीमें भरकर उसे भली भाँति काग-से बन्द करके उसपर औषधद्रव्यका नाम और द्वितीय शक्ति-सूचक २ अंक लिख कर, उसे ताप और प्रकाशसे सुरक्षित स्थान

पर उसका अत्यन्त अधिक प्रभाव होता है, जैव शक्तिकी प्रतिक्रिया भी उग्र और अल्पकालस्थायी होती है। परन्तु जिस विधिको मैंने अब बनाया है उसके अनुसार शक्तिकरण करनेसे औषध शक्तिका विकास अत्यन्त अधिक होता है, प्रभाव मृदु होता है तथा सुनिर्वाचित होनेपर समस्त रोगाक्रान्त भागोंपर उसकी रोगनाशक क्रिया भी होती है। ० इस विधिसे बनायी हुई औषधकी निम्नातिनिम्न शक्तिकी अल्प मात्रा आशु ज्वरोंमें बार बार दी जा सकती है, तथा बेलाडोनाकी एक अन्य दीर्घ काल तक क्रिया करनेवाली औषधोंकी मात्रा शीघ्र शीघ्र दुहराई जा सकती है। चिर रोगोंकी चिकित्सा निम्न शक्तिसे ही प्रारम्भ करना उत्तम होता है। जब आवश्यक हो मृदु क्रिया करनेवाली उच्च शक्ति तथा अधिका धिक उच्च शक्तिका प्रयोग किया जा सकता है।

---

० कभी-कभी पूर्ण स्वास्थ्यका लाभ हो जानेपर भी तथा प्रबल जैव शक्ति होते हुए भी, पुरानी पदप्रद स्थानीय व्याधि ज्योंकी त्यों बनी रहती है। ऐसी दशामें उसी सदृश विधानानुसार औषधकी बड़ी मात्रा देना न केवल समुचित किन्तु आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक मात्राको हाथसे पटक पटककर अधिकाधिक शक्तिकृत कर लेना चाहिए। तब उस स्थानीय व्याधिका आश्चर्यमय नाश हो जाता है।

मे रख देना चाहिये। इस विधिसे शक्तिकरणका क्रम २९ वीं शक्ति पर्यन्त हो जानेपर १०० बूंद सुरासारमे १०० बार पटककर सुरासारमय औषधद्रव बना लिया जाता है। उस द्रवमें गोलियोंको भिगाकर तथा सुखाकर ३० वीं शक्ति बना ली जाती है।

इस प्रकार कच्ची औषधियाँ शक्तिरूप औषधमें परिणत हो जाती हैं। इस विधिसे बनानेके कारण ही उनमें शक्तिका ऐसा पूर्ण विकास हो जाता है कि वे मानव शरीरके रोगाक्रान्त भागों-पर बलपूर्वक अपना प्रभाव कर सकती हैं, तथा सदृश कृत्रिम रोग उत्पन्न करके मानव जैव शक्तिमे विद्यमान प्राकृतिक रोगका निराकरण कर देती है।

उपर्युक्त विधिके अनुसार नियमत क्रिया करनेसे औषधियाँ —जो कच्ची अवस्थामे पदार्थमात्र प्रतीत होती हैं—इस प्रकार अधिकाधिक शक्तिकृत होते होते इतनी परिवर्तित और इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि वे चिन्मय[1] शक्तिमात्र शेष रह जाती हैं।

१—यदि नीचे लिखी बातका विचार किया जाय तो यह कथन असभव न प्रतीत होगा।

अनेकों परिश्रमपूर्ण प्रायोगिक सफलता एवं विफलताका अनुभव करके ही मैंने इस विधिको सर्वोत्तम निश्चित किया है। इस विधिसे जो औषध प्रस्तुत होती हैं वे अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं, तथा उनकी क्रिया अत्यन्त मृदु होती हैं। इस विधिसे प्रत्येक बार शक्ति बढानेमें औषधिके स्थूल भागका ५०००० वाँ अश शेष रह जाता है, किन्तु उसकी शक्ति अपरिमित हो जाती है। तृतीय शक्ति तक पहुँचनेपर औषधिका स्थूल भाग घटते-घटते १२५०००००००००००००००००००वाँ अश ही शेष रह जाता

उस अवस्थामें वे इन्द्रियगम्य नहीं रह जातीं, अर्थात् अगोचर हो जाती हैं। उपर्युक्त विधिसे बनाई गयी शुष्क अथवा जलमें गलाई हुई गोलियाँ उस सूक्ष्म चिन्मय औषध शक्तिकी वाहक हो जाती हैं। इस रूपमें उनका प्रयोग जब रोगाक्रान्त व्यक्तिपर किया जाता है तब उनकी रोग-हारिणी शक्ति प्रकट हो जाती है।

२७१—रोगसे मानव जातिकी रक्षा करनेके लिये चिकित्सक को सदृश विधानात्मक औषध स्वयं बनाना चाहिए। इस कार्यके लिये तुरन्तके उखाड़े पौधोंका प्रयोग करना चाहिए। यदि चिकित्सा कार्यके निमित्त किसी औषधिके रसकी आवश्यकता न हो, तो सदृश विधानात्मक औषध बनानेके लिये कच्चा औषधि द्रव्य बहुत अल्प परिमाणमें ही आवश्यक होता है। दो एक रत्ती-मात्र पर्याप्त हो जाता है। उसे खरलमें १०० रत्ती दुग्ध-शर्कराके साथ रखकर २७० वें सूत्रमें वर्णित विधिसे दशलक्षांशशेष विचूर्ण बना लेना चाहिए। उस दशलक्षांशशेष विचूर्णके अल्प भागको फिर द्रव रूपमें परिणत करके शक्तिकृत किया जा सकता है। शुष्क औषधिद्रव्योंको अथवा तेलके सदृश औषधिद्रव्योंको भी शक्तिकृत करनेकी यही विधि है।

है। इस गतिसे ३० शक्तिमें औषधिका स्थूल अंश इतना सूक्ष्म हो जाता है कि उसे अंकोंमें व्यक्त करना असंभव है। विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकारके शक्तिकरणसे अर्थात् औषधिके वास्तविक आन्तरिक औषध-सारका विकास करनेसे औषधियोंका भौतिक भाग क्रमशः निःशेष होता जाता है और अन्तमें उनका कल्पनागम्य चिन्मय औषध-सार शेष रह जाता है। अब एव यह निश्चय है कि अविकसित, कल्पनागम्य, चिन्मय सार ही औषधियोंका उपादान कारण भी होता है।

एक बारमें केवल एक ही—अकेली तथा अमिश्रित—औषध रोगीको दी जानी चाहिए

२७२—उपर्युक्त विधिसे बनाई हुई एक गोली[1] सूखी ही जिह्वा-पर रख देना नये साधारण आशु रोगोंमें अल्पाल्प मात्राका प्रयोग हो जाता है। ऐसे प्रयोगद्वारा औषधका संपर्क केवल कतिपय ज्ञानतन्तुओंसे ही होता है। यदि ऐसी एक गोलीको कुछ दुग्ध-शर्कराके साथ पीसकर पर्याप्त जलमें गला दिया जावे (सूत्र २४७), और प्रतिवार हिलाकर उसमेंसे कुछ द्रव पिलाया जावे, तो वह कई दिनोंके लिये अधिक शक्तिशाली औषध बन जाती है। ऐसी प्रत्येक मात्रा—चाहे वह कितनी अल्प क्यों न हो—अनेक ज्ञान-तन्तुओंको स्पर्श करती है।

२७३—किसी रोगकी चिकित्साके लिये अमिश्रित एक औषध-द्रव्यसे अधिकका एकसाथ प्रयोग करना अनावश्यक है, अत एव समुचित नहीं है। एक रोगके लिये एक समयमें एक ही अमिश्रित[1] औषधका प्रयोग अधिक समुचित, प्रकृतिके अधिक अनुकूल एवं अधिक तर्कसंगत है, अथवा भिन्न-भिन्न क्रिया करने-

---

१—यदि गोलियोंको ताप और सूर्य-किरणोंसे सुरक्षित रखा जावे, तो उनमें औषध-शक्ति कई वर्षों तक बनी रहती है।

१—साधारण निमक जो विपरीत किन्तु समान गुणवाले दो द्रव्योंके निश्चित परिमाणमें मिलनेसे बनता है, गंधकमिश्रित धातुएँ जो पृथ्वीमें पाई जाती हैं; निश्चित परिमाणमें गंधक और क्षारमय मृत्तिकाके मिश्रणसे बने पदार्थ (यथा नैट्रम सल्फ, कैलकेरिया सल्फ), सुरासार और अम्ल-को परिस्रुत करनेसे जो आकाशके सदृश द्रव्य बनता है तथा फासफोरस, इन सब मिश्रित द्रव्योंको सदृशविधानके चिकित्सक अमिश्रित एक-एक

वाली अनेक औषधोंके मिश्रणका प्रयोग ? कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि इस प्रकारका भ्रम कैसे हो सकता है। रोगीको एकसाथ दो भिन्न औषधद्रव्योंका सेवन कराना सदृश विधानकी प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली तथा एकमात्र सच्ची और सीधी साधी चिकित्सा-प्रणालीके अनुसार तो कदापि समुचित नहीं है।

२७४—यदि सीधे-सादे उपायसे कोई कार्य सिद्ध हो सकता हो, तो उसकी सिद्धिके लिये जटिल उपायोंका अवलम्बन अनुचित है। इस युक्तिपूर्ण कथनके अनुसार यदि एक अमिश्रित औषधके प्रयोगसे सच्चिकित्सक वाञ्छित फल प्राप्त कर सकता है, (अर्थात्, ऐसी कृत्रिम रोगजनक शक्ति प्राप्त हो सकती है जो सदृश विधानात्मक होनेपर प्राकृतिक रोग को पूर्णतया वशमें कर सकती है, उसका नाश कर सकती है और उसे सर्वदाके लिये निर्मूल कर सकती है), तो चिकित्सकको कभी ऐसे औषध द्रव्यके प्रयोगका विचार नहीं करना चाहिए जो अमिश्रित एक न हो। इसके लिये अन्य कारण भी हैं, यथा—यद्यपि अमिश्रित औषध द्रव्योंकी विधिवत् परीक्षा करके यह निश्चय कर लिया

औषध-द्रव्य मानकर प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु वनस्पतिके क्षारमय तत्त्व से जो अम्ल पदार्थ निकाला जाता है उसके निकालनेमें उनपर अनेक पदार्थोंका प्रभाव पड़ता है। अत एव इस द्रव्योंको (यथा चिनिनम, स्ट्रिक्नीन, मारफाइन आदिको) सदृश विधानके चिकित्सक वैसे ही अमिश्रित द्रव्य नहीं मान सकते जैसे प्राकृतिक रूपमें वे (पेरुवियनकी छाल, नक्स वामिका, अफीम आदि) वनस्पतियोंमें वर्तमान रहते हैं। उन वनस्पतियोंमें समस्त रोगनाशक शक्ति वर्तमान रहती है। क्षारमात्र ही तो वनस्पतियोंके तत्त्व नहीं होते।

गया हो कि विकाररहित स्वस्थ मानव शरीरमें प्रत्येक औषध-द्रव्यके क्या-क्या विशेष विशुद्ध परिणाम होते हैं, तथापि पहले-से ही यह ज्ञान हो जाना असंभव है कि दो अथवा अधिक औषध द्रव्योंको मिलाकर प्रयोग करनेका क्या परिणाम होगा, किस प्रकार एक औषध-द्रव्यकी क्रिया दूसरे औषधद्रव्यकी (मानव शरीरपर होनेवाली) क्रियामें बाधा करेगी अथवा उसमें परिवर्तन करेगी। इसके अतिरिक्त, यह भी तो है कि जिस अमिश्रित औषध द्रव्यके लक्षणसमुच्चयका निश्चय हो चुका है, सदृश विधान-के अनुसार सुनिर्वाचित होनेपर, वह अकेला ही रोगका समूल नाश कर डालनेके लिये पर्याप्त होता है। यदि मान लिया जावे कि उसका निर्वाचन ठीक नहीं था और सदृश विधानके अनुसार वह अत्यन्त उपयुक्त औषध न थी, तो अधिकसे अधिक यही होगा कि उससे कोई लाभ न होगा, और रोगीमें नये-नये लक्षण प्रकट होंगे। परन्तु इससे हमारे औषध-लक्षण-सम्बन्धी ज्ञानमें वृद्धि ही होगी; कारण कि रोगीमें उत्पन्न हुए नये लक्षणोंसे उस (प्रयुक्त) औषधके पूर्वनिश्चित लक्षणोंका (परीक्षाके समय स्वस्थ मानव शरीरमें प्रकट हुए लक्षणोंका) समर्थन हो जायगा। मिश्रित औषधोंके प्रयोगसे यह लाभ कभी संभव नहीं हो सकता[1]।

१—भली भाँति निदान करके किसी रोगीको सुनिर्वाचित सदृश विधानात्मक औषध खिला देनेपर, बुद्धिमान चिकित्सक शक्ति-लाभके लिये रोगीको मदिरा पान कराना, भिन्न भिन्न वनस्पतियोंका सेंक कराना, अनेक विचित्र औषध-द्रव्योंको सुईद्वारा उसके शरीरमें प्रविष्ट करना, अथवा लेपोंसे रगड़ना आदि ऐलोपैथीकी क्रियाओंसे तर्कहीन ऐलो-पैथिक चिकित्साको ही दान कर देते हैं अर्थात् उनका प्रयोग नहीं करते।

सदृश-विधानात्मक मात्राका आवश्यक परिमाण, उसे बढ़ाने-घटानेकी विधि, तथा बड़ी मात्राकी भयावहता।

२७५—सुनिर्वाचित होनेसे ही सदृश-विधानात्मक औषध रोगीके लिये उपयुक्त नहीं हो जाती। उपयुक्त होनेके लिये अत्यन्त सुनिर्वाचित औषधकी मात्रा भी अत्यन्त अल्प होनी चाहिए। किसी प्रस्तुत रोगीके लिये अत्यन्त उपयुक्त तथा सदृश विधानके अनुसार सुनिर्वाचित होते हुए भी, यदि औषधकी मात्रा अति प्रबल हो (अर्थात् यदि मात्राका परिमाण अधिक हो), तो स्वभावतः उपकारशील होनेपर भी, अपने परिमाणके कारण वह हानिकारक ही सिद्ध होगी, तथा उसकी सदृश कृत्रिम रोग-जनक क्रियाके कारण, जैव शक्तिपर उसका प्रभाव अति प्रबल होगा। जैव शक्तिपर ही औषधकी प्राथमिक क्रिया होती है, अत एव वह जैव शक्तिको ही आक्रान्त करती है; जैव शक्तिके द्वारा शरीर-यन्त्रके उन अत्यन्त अनुभूतिपूर्ण भागोंपर उसका अति प्रबल प्रभाव पड़ता है जो पहलेसे ही प्राकृतिक रोगद्वारा अत्यन्त पीड़ित रहते हैं।

२७६—अत एव, मात्रा बड़ी होनेपर उपयुक्त सदृश विधानात्मक औषध भी रोगीको हानि ही पहुँचाती है, तथा यदि मात्रा प्रबल (बहुत बड़ी) होती है तो वह जितनी अधिक सदृश विधानात्मक और जितनी उच्च शक्तिकृत होती है उतनी ही अधिक हानिकर होती है, एवं अति अनुपयुक्त असदृश विधानात्मक (एलोपैथिक) औषधकी उतनी ही बड़ी मात्रासे जो हानि हो सकती है उससे भी अधिक हानि करती है।

सुनिर्वाचित सदृश विधानात्मक औषधकी बहुत बड़ी मात्राओं-का; विशेष कर उन्हें बारंबार दुहरानेका परिणाम अति कष्टमय

ही हुआ करता है। वे प्रायः रोगीके प्राणोंका संकट उपस्थित कर देती हैं, अथवा उसके रोगको असाध्य-प्राय बना देती हैं। प्राकृतिक रोगको तो वे (मात्राएँ) निःसन्देह जैव शक्तिकी अनुभूति-क्षेत्रसे निर्मूल कर देती हैं, और जिस क्षणमें प्रबल मात्राकी क्रिया रोगीपर होती है, उसी क्षण रोगी प्राकृतिक रोगसे विनिर्मुक्त हो जाता है परन्तु परिणाममें वह अधिक उग्र एवं दुःसाध्य औषधजन्य सदृश रोगसे पीड़ित हो जाता है[१]।

७७—उपर्युक्त कारणोंसे तो यही सिद्ध होता है कि औष-

१—यथा उपदंशमें पीड़ित रोगीको पारदसे बनी हुई उग्र एलोपैथिक औषधोंकी बड़ी-बड़ी मात्राओंका बारंबार प्रयोग करानेसे पारद-संबन्धी असाध्य व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं; परन्तु, जैसा एलोपैथिक विधानमें सर्वदा किया जाता है, यदि उपदंश रोगको विकृत न कर दिया गया हो, तो पारदजन्य मृदु किन्तु सक्रिय औषधकी एक अथवा कतिपय मात्राओंके प्रयोगसे कुछ ही दिनोंमें क्षतसहित संपूर्ण रतिज (उपदंश) रोग समूल नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जिस सविराम ज्वरको नाश करनेके लिये उपयुक्त होनेपर उच्च शक्तिकृत चाइनाकी एक मात्रा पर्याप्त हो सकती है, एलोपैथिक चिकित्सक उसके लिये चाइनाकी छालके चूर्णको अथवा उससे बनी क्विनाइनको नित्य बड़ी-बड़ी मात्रामें प्रयोग कराते हैं। इसका परिणाम यही होता है कि चाइनासंबन्धी व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और विकसित कच्छुसे मिलकर जटिल हो जाती हैं। यदि यकृत और प्लीहा आदि आन्तरिक मार्मिक अवयवोंको नष्ट करके वे व्याधियाँ क्रमशः रोगीको यमलोक नहीं पहुँचा देतीं, तो कई वर्षोंके लिये उसका जीवन तो कष्टमय अवश्य बना देती हैं। सदृश विधानात्मक औषधकी बड़ी-बड़ी मात्राओंके दुरुपयोगसे जो ऐसी व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनका नाश करनेके लिये सदृश-विधानात्मक औषधकी कल्पना करना अत्यन्त कठिन है।

चारिक परिणामको मृदु करनेके लिये सुनिर्वाचित सदृश विधा नात्मक औषधकी मात्राको घटाकर जितनी ही स्वल्पताकी सीमा को पहुचा दिया जावे, उसे उतनी ही अधिक हितकारी हो जाना चाहिए, कारण कि यदि मात्रा पर्याप्त अल्प हो, तो औषधका निर्वाचन जितना अधिक सदृश विधानात्मक होगा वह उतना ही अधिक हितकारी होगी और उसका रोग नाशक परिणाम भी उतना ही अधिक चमत्कारी होगा।

२७८—अब यह प्रश्न होता है कि मृदु और निश्चित औप चारिक परिणाम प्राप्त करनेके लिये इस अत्यन्त उपयुक्त अल्पता की सीमा क्या होनी चाहिए? अर्थात् प्रस्तुत रोगीकी उत्तम रोग मुक्तिके लिये सुनिर्वाचित सदृश विधानात्मक औषधकी मात्रा कितनी अल्प होनी चाहिए? इस समस्याका समाधान तथा प्रत्येक औषधके सबन्धमे यह स्थिर करना सैद्धान्तिक अनुमानसे परे है कि उसकी मात्राका परिमाण कितना हो जिससे वह सदृश विधानात्मक प्रयोगके लिये पर्याप्त हो, तथा साथ-ही-साथ इतना अल्प हो कि उसके द्वारा रोगमुक्ति सुखपूर्वक एव शीघ्रातिशीघ्र सपादित हो सके। अत्यन्त सूक्ष्म तर्क अथवा बडे बडे दार्शनिक विवेचनोंद्वारा इस समस्याका निर्णय नहीं हो सकता। वास्तवमे तो यह उतना ही असभव है जितना असभव कि समस्त कल्पनीय रोगियोंकी अग्रिम सूची बना लेना है। विशुद्ध परीक्षात्मक प्रयोग, रोगियोंकी सहिष्णुताका सावधान निरीक्षण, तथा यथार्थ अनुभवसे ही प्रत्येक प्रस्तुत रोगीके सबन्धमे यह निर्णय किया जा सकता है कि उसे कितनी अल्प मात्रा देनी चाहिए। विशुद्ध अनुभवसे यही सिद्ध होता है कि सदृश विधानात्मक रोगमुक्तिके लिये सुनिर्वाचित औषधकी अल्पाल्प मात्रा प्रयोजनीय होती है। अत एव, इसके विपरीत पुरानी (एलोपैथिक) प्रथाका—बडी मात्राके प्रयोग-

का—समर्थन करना व्यर्थ है, कारण कि श
भागोंपर तो उनकी सदृश विधानात्मक क्रिया
वरन् उन भागोंपर ही उनकी मिया होती है
नहीं होते।

२७६—विशुद्ध अनुभवसे व्यापक रूपे
यदि किसी प्रधान अंगकी विशेष विकृति र
(चाहे रोग चिर एवं जटिल क्यों न हो) ।
कालमें रोगी समस्त अन्य बाह्य औषधजनि
रखा जावे, तो सदृश विधानके अनुसार नि
औषधकी अल्पसे अल्प मात्रा भी कठिन
चिकित्सा आरभ करनेके लिये पर्याप्त हो
रोगसे अधिक बलशाली होती है एव उसे
ही लेती है, और जैव शक्तिकी अनुभूतिके द्
डालनेमें समर्थ हो जाती है, तथा इस प्रक
प्रारभ कर देती है।

२८०—जबतक रोगीको सर्वदिक् लाभ ।
अनेक पुराने मूल कष्टोंका मृदु रूपमें पुन अनु
तक, उसी औषधकी अल्प मात्राको, क्रमश
कराना चाहिए जिससे कोई नवीन कष्टप्रद
हों और लाभ हो रहा हो। पुराने मूल कष्ट
मृदु रूपमें पुन अनुभव होना यह सूचित व
प्रयोगके पूर्व, हिलाकर परिवर्तित की गई म
करके, सेवन करानेसे रोगमुक्ति निकट हो ग
इससे यह भी सूचित होता है कि प्राकृतिक
नाश करनेके निमित्त सदृश कृत्रिम रोग

शक्तिको और अधिक प्रभावित करना आवश्यक नहीं है (सूत्र १४८)। इससे यह भी सूचित होता है कि जैव शक्ति प्राकृतिक रोगसे तो विमुक्त हो गई है, किन्तु औषधजन्य रोगके कुछ अंशोंका अनुभव कर रही है। इसीको अब भी सदृश वियानात्मक वृद्धि कहते हैं।

२८१—उपर्युक्त बातको निश्चय करनेके लिये आठ, दस अथवा पन्द्रह दिनों तक औषधप्रयोग स्थगित करके रोगीको दुग्धशर्करामात्र देते जाना चाहिए। जिन मृदु कष्टोंका अनुभव रोगीको अन्तमें हुआ यदि वे औषधजन्य सदृश कृत्रिम रोगके अंशमात्र होते हैं, तो कतिपय घण्टों अथवा दिनोंमें वे नष्ट हो जाते हैं। इस औषधरहित अन्तरालमें यदि रोगी दृढ़तापूर्वक पथ्यपालन करता रहे, तथा यदि उसे मूल रोगके किसी अंशका अनुभव नहीं होवे, तो समझना चाहिए कि वह रोगमुक्त हो गया। परन्तु यदि इस अन्तरालके अन्तिम भागमें मूल व्याधिके लक्षण पुनः प्रकट हों, तो समझना चाहिए कि मूल व्याधिका समूल नाश नहीं हुआ और वे लक्षण उसके बचे हुए अंश हैं। नकी भी चिकित्सा उसी औषधकी अधिक उच्च शक्तियोंद्वारा पर्युक्त विधिसे करनी चाहिए। रोगीको शीघ्र रोगमुक्त करनेके लिये कतिपय प्राथमिक अल्प मात्राओंको पूर्वोक्त विधिसे क्रमशः उच्च करते जाना चाहिए। परन्तु इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि सहिष्णु रोगियोंकी अपेक्षा अत्यन्त अति उत्तेजनाशील रोगियों- : लिये मात्राकी शक्तिको थोड़ा-थोड़ा और अति शनैः शनैः .ाना चाहिए। सहिष्णु रोगियोंकी चिकित्साके लिये मात्राकी ाक्ति शीघ्र-शीघ्र बढ़ाई जा सकती है। कई रोगी इतने अस- ्ष्णु होते हैं, अर्थात् वे इतने शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं, कि नमें और साधारण सहिष्णु रोगियोंमें अर्थात् शीघ्र प्रभावित

न होनेवाले रोगियोंमें उतना ही अन्तर होता है जितना कि १००० और १ में होता है।

२८९—चिर रोग-चिकित्सामें यदि मात्राके प्रथम प्रयोगसे तथाकथित सदृश-विधानात्मक वृद्धि हो जावे, अर्थात् पहले-पहल पाए गये रोगके प्राथमिक मूल लक्षणोंकी ध्यानाकर्षक वृद्धि हो जावे, तो निश्चितरूपेण सिद्ध हो जाता है कि मात्रा बहुत बड़ी थी। मात्राका प्रत्येक पुनः प्रयोग भी—जिससे सदृश विधानात्मक वृद्धि हो जावे—यही सिद्ध करता है, चाहे प्रयोगके पहले उसे हिलाकर कुछ परिवर्तित (अर्थात् अधिक उच्च शक्तिकृत) क्यों न कर लिया गया हो[1]।

१—चिर रोगोंकी सदृश विधानात्मक चिकित्सा प्रारम्भ करनेका साधारण नियम तो यही है कि अल्पसे अल्प मात्रासे चिकित्सा प्रारम्भ करके उसकी शक्ति क्रमशः बढ़ाई जावे। परन्तु कच्छु, उपदंश और प्रमेहकी उस अवस्थाकी चिकित्सा इस नियमका अपवाद है जब उनके परिणाम त्वचापर वर्तमान हों; यथा खुजलीकी नयी फुँसियाँ, उपदंशका क्षत और प्रमेहका मांस-प्ररोह। जबतक ये त्वचागत लक्षण वर्तमान रहते हैं तबतक इन चिर रोगोंकी चिकित्साको प्रारंभ करनेके लिये समुचित औषधकी बड़ी-बड़ी मात्राओंकी आवश्यकता होती है। हाँ, इन मात्राओंका प्रयोग शक्ति बढ़ा-बढ़ाकर नित्य अथवा प्रतिदिन कई बार करना चाहिए। तीनों चिर-रोगोंकी इस प्रकार चिकित्सा करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं रहता। जब ये व्याधियाँ शरीरयन्त्रमें छिपी रहती हैं, उस अवस्थामें बड़ी-बड़ी मात्राओंसे चिकित्सा प्रारंभ करनेपर यद्यपि रोग समूल नष्ट हो जाते हैं, तथापि उनके नित्य प्रयोगसे संभवतः कृत्रिम रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जबतक इन रोगोंके बाह्य लक्षण वर्तमान रहते हैं तबतक ऐसा भय नहीं रहता, कारण कि औषधकी बड़ी-बड़ी मात्राओंका नित्य प्रयोग करनेसे

यह विदित होता रहता है कि किस सीमातक जैव शक्ति निरय उन रोगोंसे मुक्त होती जाती है। ये तीनों रोग तभी नष्ट भी हो सकते हैं, जब उनके बाह्य लक्षण विलुप्त हो जाते हैं और चिकित्सकको यह निश्चय हो जाता है कि अब और औषध प्रयोगकी आवश्यकता नहीं रह गई।

जैव शक्तिपर शक्तिमय आक्रमण ही तो रोग है। रोग स्वत कोई भौतिक पदार्थ नहीं होता। पुरानी प्रथाके (एलोपैथिक) चिकित्सक सहस्रों वर्षोंसे इसी भ्रममें हैं कि रोग कोई गोचर पदार्थ होता है। इसी भ्रमके अनुसार वे रोगियोंकी प्राणघातक चिकित्सा करते जाते हैं। रोगोंमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं पाया जाता जिसे निकाल डालनेसे, रगड़ देनेसे, जला देनेसे, बाध देनेसे अथवा काट डालनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है। हाँ, इन स्थानीय प्रक्रियाओंका परिणाम यही होता है कि चिर रोगग्रस्त रोगीका रोग सीमारहित और पहलेसे भी अधिक दुःसाध्य हो जाता है। जैव शक्तिपर विरोधी शक्तियोंका शक्तिमय प्रभाव ही तो दुष्ट आन्तरिक चिर रोगके बाह्य लक्षणोंका मूल अथवा सार है। जैव शक्तिपर सदृश विधानात्मक औषधोंका शक्तिमय प्रभाव ही आन्तरिक चिर रोगोंका नाश कर सकता है। कारण कि सदृश विधानात्मक औषध जैव शक्तिपर सदृश किन्तु अधिक बलवान प्रभाव करती हैं और इस प्रकार रोगरूपी शत्रुकी आन्तरिक एवं बाह्य दोनों अनुभूतिको हटा देती हैं। फलत जैव शक्तिके लिये (शरीर-यन्त्रम) रोगका अस्तित्व ही नहीं रह जाता, और रोगी रोग-मुक्त एव स्वस्थ हो जाता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त सत्य होते हुए भी, अनुभव यह सिखाता है कि कच्छु को (खुजलीके रोगको) और उसके बाह्य उद्भेदोंको (फुसिया आदिको) तथा उपदंश रोगको और उसके बाह्य व्रणको निर्मूल करनेके लिये उपयुक्त औषधका आन्तरिक प्रयोग ही पर्याप्त होता है, एव उनकी चिकित्सा उपयुक्त औषधके आन्तरिक प्रयोगद्वारा ही की जानी चाहिये। परन्तु अञ्जीरकी

२८३—अत एव प्रकृतिका पूर्ण अनुसरण करनेके लिये रोग मुक्ति विधायक कलाको जाननेवाले चिकित्सक, इसी कारण सर्वथा उपयुक्त एव सुनिर्वाचित सदृश विधानात्मक औषधकी अत्यन्त अल्प मात्राके ही प्रयोगका निर्देश करते हैं। कारण यह है कि मानवोचित भूलके कारण यदि कभी अनुपयुक्त औषधका प्रयोग हो गया, तो रागक सदृश एव उपयुक्त न होनेपर भी उससे हानि भी इतनी अल्प ही होती है कि रोगीकी जैव शक्ति उसे स्वय विनष्ट कर डालती है, अथवा लक्षण-सादृश्यके अनुसार चुनी हुई उपयुक्त औषध (की अति अल्प मात्रा) का तुरन्त प्रयोग करने से शीघ्र ही सुधार हो जाता है । (सूत्र २४६)

शरीरके वे भाग जिनपर औषधोंका न्यूनाधिक प्रभाव हो सकता है।

२८४-अधिकतर तो जिह्वा,मुख और पेटके द्वारा ही औषधों की क्रिया होती है, परन्तु नासिका और श्वासप्रश्वास-यन्त्रद्वारा भी सूघनेसे तथा मुखद्वारा श्वास लेनेसे द्रव औषधोंकी क्रिया हो जाती है। औषधके आन्तरिक प्रयोगके साथ साथ उसी औषध-को जलमें मिला कर शरीरकी त्वचापर रगडनेसे भी औषध-क्रियामें सहायता मिल सकती है।[1]

आक्रातके प्रमेहजन्य मास प्ररोहको पूर्णतया विनष्ट करनेके लिये उपयुक्त औषधके आन्तरिक प्रयोगके साथ-साथ उसका बाह्य प्रयोग भी आवश्यक होता है।

१—धाय अथवा माताको औषध खिलानेसे उसके दूधद्वारा शिशु पर औषधकी क्रिया बहुत अच्छी होती है। सुनिर्वाचित औषधकी अल्प

औषधोंका वाह्यप्रयोग—विशेष जल-स्नान।

२८५—इस प्रकार जिस औषधका आन्तरिक प्रयोग हो रहा हो, और जिसके प्रयोगका फल रोगनाशक सिद्ध हो रहा हो, उसी औषधका वाह्यप्रयोग करके—पीठ, वाहु, तथा हाथ-पाँवमें रगड़कर—चिकित्सक बहुत पुराने रोगोंको रोगनाशकेपथपर अग्रसर कर सकते हैं। ऐसा वाह्यप्रयोग उन अंगोंपर नहीं करना चाहिए जिनमें पीड़ा, आक्षेप अथवा त्वचा संबन्धी कोई व्याधि वर्तमान हो¹।

मात्रा माताको खिलानेसे दूध पीनेवाले बच्चेका प्रत्येक रोग नष्ट हो सकता है। बड़े बच्चोंकी अपेक्षा संसारके नये नागरिकोंपर (नवजात शिशुओंपर) इस प्रकारके औषधप्रयोगका फल निश्चित और सुन्दर होता है। धायका दुग्धपान करनेसे शिशुओंमें कच्छुरोगकी प्राप्ति प्रायः हो जाया करती है। अत एव यदि माताकी प्रकृतिद्वारा शिशुको कच्छुरोग नहीं प्राप्त हुआ है, तो धायको कच्छु-विषनाशक औषध खिलाकर उसका दुग्धपान करनेवाले शिशुको कच्छुरोगकी प्राप्तिसे बचाया जा सकता है। माताकी प्रकृतिके द्वारा भी शिशुओंको कच्छुरोग प्रायः प्राप्त हुआ करता है। अत एव (प्रथम) गर्भावस्थामें माताओंको कच्छु-विषनाशक औषधका मृदु प्रयोग कराना परमावश्यक है। उससे गर्भस्थ भ्रूणका तथा माताका, दोनोंका, अनन्त चिर व्याधिजनक कच्छुरोग विनष्ट हो जाता है। इस हेतु २७० वें सूत्रमें वर्णित विधिसे सल्फरकी शक्तिकृत मात्राओंका प्रयोग परम हितकारी होता है। इस प्रकार भावी सन्तानको कच्छुसे सुरक्षित किया जा सकता है। गर्भवती नारियोंके सम्बन्धमें यह प्रयोग अत्यन्त सटीक सिद्ध हुआ है। गर्भावस्थामें उपर्युक्त विधिसे कच्छु-विषनाशक चिकित्सा हो जानेसे अधिक स्वस्थ और पुष्ट सन्तान होती है जिसे देखकर सबको आश्चर्य हो जाता है।

१—कभी कभी यह देखनेमें आता है कि अंगविकृतिके पुराने रोगी

जिनकी त्वचापर कोई रोग नहीं रहता स्थानविशेषके जल सोतेमें स्नान करनेमात्रसे चंगे हो जाते हैं, और उनका विकार स्थायी रूपसे नष्ट हो जाता है। इस प्रकारके रोगनाश होनेमें यही सिद्धान्त लागू हो सकता है कि भाग्यवशात् उस जलविशेषमें ऐसा सदृश विधानात्मक उपचार वर्तमान था जो रोगीके लिये अत्यन्त उपयुक्त हो गया। वास्तवमें ऐसे जलविशेषमें स्नान करनेसे उन रोगियोंको बहुधा हानि होती देखी गई है, जिनका कोई चर्मसम्बन्धी रोग बाह्य औषध प्रयोगसे दबा रहता है। जलविशेषमें स्नान करनेसे ऐसे रोगी कुछ समयके लिये स्वस्थ प्रतीत होते हैं, और तब उनकी जैवशक्ति दबी हुई आन्तरिक व्याधिको किसी अन्य अधिक मार्मिक भागमें प्रकट हो जाने देती है। कभी कभी दृष्टि-सम्बन्धी ज्ञानतन्तुओंमें पक्षाघात हो जाता है, दृष्टि नाश हो जाता है, नेत्र पुतली धुंधली हो जाती है, श्रवण-शक्तिका लोप हो जाता है, उन्माद अथवा श्वासावरोधक कासश्वास हो जाता है, अथवा मस्तिष्कमें किसी शिराके फट-पड़नेसे सन्यास रोग हो जाता है, तथा इस प्रकार उस भ्रान्त रोगीका एव उसके कष्टका अन्त हो जाता है।

सदृश विधानके चिकित्सकोंका एक विशेष सिद्धान्त यह है कि वे ऐसी किसी औषधका प्रयोग कभी नहीं करते जिसके परिणामोंका ज्ञान स्वस्थ व्यक्तियोंपर परीक्षा करके भली भांति प्राप्त न कर लिया गया हो (सूत्र २०, २१)। रोगीके लिये किसी औषधका निर्देश इस आधार-पर वे नहीं करते कि उस औषधके द्वारा कुछ समय पूर्व ऐसा ही रोग नष्ट हुआ है और सम्भव है वह औषध वर्तमान रोगको भी नष्ट कर दे। यदि किसी औषधके सम्बन्धमें यह सुना गया हो कि उससे अमुक रोग नष्ट हो गया, तो इस प्रकारकी जनश्रुतिके आधारपर भी सदृश विधानात्मक चिकित्सक अपने रोगीके लिये किसी औषधका निर्देश नहीं करते। इन थोथे आधारोंको ससार-हितैषी सदृश विधानके चिकित्सक पुराने (एलो-

पैथिक) चिकित्सकोंके लिये छोड़ देते हैं। अत एव सदृश विधानके सच्चे चिकित्सक अपने रोगियोंको जलविशेषमें स्नान करनेका आदेश अथवा परामर्श कभी नहीं देते। कारण स्पष्ट ही है, इन सब जलविशेषमें सोता-में स्नान करनेसे स्वस्थ मनुष्योंपर क्या परिणाम होते हैं इस बातको निश्चित करनेके निमित्त कभी कोई परीक्षात्मक प्रयोग नहीं किये गये।

इसके अतिरिक्त ऐसे जलविशेषमें स्नानके दुरुपयोगोंका कुपरिणाम वैसा ही होता है जैसा कि अति उग्र एवं भयंकर औषधोंके दुरुपयोगोंका हुआ करता है। इस प्रकार एलोपैथिक विधानके अनुसार अनभिज्ञ चिकित्सकोंद्वारा विशेष जलस्नानके लिये भेजे गये सहस्र रोगियोंमेंसे कदाचित् ही दो एक भाग्यवशात् रोगमुक्त हो जाते हैं, और इसी चमत्कारको ढिंढोरा पीटकर घोषित किया जाता है, सैकड़ों रोगी चुपचाप बिना किसी लाभके अपना सा-मुंह लेकर लौट आते हैं, शेष सदाके लिये वहीं रह जाते हैं, और वहीं उनकी समाधि बन जाती है। ऐसे विशेष जलोंके सुप्रसिद्ध स्थानोंमें बनी हुई असंख्य समाधियाँ इसी तथ्यको तो प्रमाणित करता हैं*।

* सदृश विधानके सच्चे चिकित्सक अपने सिद्धान्तोंसे कभी विचलित नहीं होते, वे अपनी शरणमें आए हुए रोगियोंके प्राणोंके साथ इस प्रकारका खेलवाड़ नहीं करते। वास्तवमें यह एक प्रकारका जुआ ही तो है, इसमें हार और जीत—रोगवृद्धि एवं मृत्यु और रोगमुक्ति—५०० अथवा १००० में १ के अनुपातसे होती है। अत एव सदृश विधानके चिकित्सक अपने रोगियोंको ऐसे संकटमें कभी नहीं डालते, और उन्हें भाग्यभरोसे मरने अथवा जीनेके लिये विशेष जलमें स्नान करनेका परामर्श कभी नहीं देते। अपने अथवा अन्य चिकित्सकोंके बिगड़े हुए रोगियोंको विशेष जलमें स्नानके लिये भेजकर उनसे अपना पिण्ड छुड़ानेके लिये एलोपैथिक चिकित्सक ही इस मधुर साधनका अवलंब लिया करते हैं।

विद्युत् तथा उत्पादित विद्युत् ।

२८६—धातुचुम्बक, विद्युत्, तथा कृत्रिम विद्युत्की शक्तियों-का प्रभाव भी हमारी जैव शक्तिपर कम नहीं होता । औषधोंकी भाँति वे भी सदृश विधानात्मक उपचार हो सकते हैं । औषध कहलानेवाले उपचारोंको मुखद्वारा खिलाकर, सुंघाकर अथवा उन्हें शरीरपर रगडकर जिस प्रकार रोगनाश किया जाता है, उसी प्रकार इन शक्तियोंका समुचित प्रयोग भी रोगनाशक सदृश विधानात्मक उपचार हो सकता है । कई प्रकारके रोग विशेषतः मानसिक अनुभूति, उत्तेजना तथा अस्वाभाविक अनुभूतिके रोग और अनैच्छिक पेशियोंके गतिसम्बन्धी रोग तो ऐसे उपचारों-से विनष्ट हो सकते हैं । परन्तु दानो प्रकारकी विद्युत् शक्तियोंके तथा विद्युत्-चुम्बक-यन्त्रोंके उपचारात्मक प्रयोगकी निश्चित विधि अभी अज्ञात ही है । अभी तक दानों प्रकारका विद्युत्-शक्तियों-का प्रयोग केवल अस्थायी उपशमके लिये किया जाता है जिससे रोगियोंको वास्तवमे बड़ी हानि होती है । अभी तक परीक्षात्मक प्रयोगोंद्वारा यह स्थिर नहीं हुआ है कि इन दोनों विद्युत् शक्तियों-द्वारा स्वस्थ मानव शरीर-यन्त्रमें क्या क्या विशुद्ध और निश्चित परिणाम हो सकते हैं [यह निश्चय हो जानेपर ही इन शक्तियों-को सदृश विधानात्मक उपचारकी भाँति प्रयुक्त किया जा सकेगा]

धातु-चुम्बक ।

२८७—रोगनाश करनेके लिये चुम्बककी शक्तियोंका उप-योग अधिक निश्चित रूपसे किया जा सकता है । शक्तिशाली चुम्बकके उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवोंके परिणामोंका वर्णन "मैटी-रिया मेडिका प्योरा" नामक ग्रन्थमे किया गया है । उनके अनु-

सार चुम्बकके उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवका उपयोग किया जा सकता है। यद्यपि दोनों ध्रुव समान शक्तिशाली होते हैं, तथापि उनके परिणाम परस्पर विपरीत होते हैं। लक्षण-सादृश्यके अनुसार दोनों ध्रुवोंके सपर्श कालको बढा घटाकर मात्रा बढाई घटाई जा सकती है। यदि किसी मात्राकी क्रिया अत्यन्त उम्र हो जावे, तो जस्ताके चिकने पत्रको शरीरपर फेर देनेसे दुष्परिणाम दूर हो जाता है।

प्राणि-चुम्बक-शक्ति, मेस्मेरिज्म।

२८८—इस प्रसगमें प्राणि चुम्बक शक्तिका कुछ विवेचन कर देना समुचित होगा। इस शक्तिके आविष्कर्ता 'मेस्मर' महोदयके नामके अनुसार इसे मेस्मेरिज्म भी कहते हैं। ससारके समस्त औपचारिक द्रव्योंसे यह भिन्न ही वस्तु है। गत एक शताब्दीसे यह शक्ति अनभिज्ञताके कारण अस्वीकृत और तिरस्कृत है। इसकी क्रिया कई प्रकारकी होती है। वास्तवमें यह शक्ति मनुष्यके लिये ईश्वरकी अमूल्य और चमत्कारक देन है। इसके द्वारा प्रबल इच्छा शक्तिवाले मनुष्य स्पर्शमात्रसे, अथवा विना स्पर्शके, यथा कुछ दूरीसे भी, अपनी जैवशक्तिका प्रभाव रोगीपर कर सकते हैं। इस प्रकार प्रभावित हो जानेपर रोगीमें मेस्मेरिज्म करनेवाले व्यक्तिकी स्वस्थ जैव शक्तिका प्रवाह होने लगता है। जिस प्रकार चुम्बक लोहेकी शक्ति अदृश्य रूपसे दूसरे लोहे पर प्रभाव करती है, उसी प्रकार अदृश्य रूपसे मेस्मेरिज्म करनेवालेकी जैव शक्तिका प्रभाव रोगीपर होता है, और मेस्मेरिज्म कर्ताकी जैव शक्तिका प्रवाह भी रुग्ण व्यक्तिमें होने लगता है।

प्राणि चुम्बक-शक्ति रोगीकी दुर्व्यवस्थित जैव शक्तिको सुव्यवस्थित कर देती है, रोगीके शरीरमें जहाँ जैव शक्तिका प्रवाह

घट जाता है वहाँ उसके प्रवाह को पर्याप्त कर देती है, तथा जिस भागमे जैव शक्तिका प्रवाह केन्द्रित होकर घनीभूत हो जाता है तथा स्नायविक दुर्व्यवस्थाओंको प्रोत्साहित करता रहता है, उस भागमे उसे घटाकर आवश्यक परिमाणमे कर देती है। इस प्रकार रोगीकी जैव शक्तिकी दुर्व्यवस्थाको दूर करके प्राणि-चुम्बक-शक्ति मेस्मेरिज्म करनेवाले स्वस्थ व्यक्तिकी जैव शक्तिके प्रवाह-को रोगीके शरीरमे स्थापित कर देती है। सुव्यवस्थित जैव शक्ति-के प्रवाहसे चत, दृष्टिनाश और पक्षाघातादि दुर्व्यवस्थाओंका अन्त हो जाता है। अनेक युगोंमे जो आश्चर्यकारक सत्वर रोग-नाश हुए हैं वे अद्भुत प्राकृतिक शक्ति-समन्वित व्यक्तियोंके मेस्मेरिज्मके कारण ही हुए हैं। समस्त मानव शरीरपर इस शक्तिका प्रभाव होता है। मर जानेके कुछ समय पश्चात् कई व्यक्ति इस शक्तिके प्रभावसे पुनर्जीवित हो गए। ऐसी घटनाएँ सहानुभूतिपूर्ण तथा प्राणीमात्रका हित चाहनेवाले स्वस्थ व्यक्तियों-की प्रबल इच्छा-शक्तिके फलस्वरूप होती हैं, तथा वे इस शक्तिके चमत्कारक प्रभावके ज्वलन्त विश्वमान्य उदाहरण हैं[1]। यदि शक्तिशाली व्यक्ति—चाहे पुरुष हों अथवा नारी—जिनमे स्वस्थ जैव शक्ति प्रवाहित हो रही हो, सात्विक भावसे स्वार्थरहित

१—मेस्मेरिज्म शक्तिका विकास कतिपय ऐसे पुरुषोंमें होता है जो स्वभावसे अत्यन्त दयालु तथा शरीरसे पूर्णतया बलवान होते हैं, परन्तु जिनमें स्त्रीप्रसंगकी कामना बहुत थोड़ी होती है, तथा उसे सर्वथा जीत लेनेमें भी उन्हें विशेष कष्ट नहीं होता। इसी कारण उनकी उत्तम शक्तियाँ (जिनसे वीर्य बनता है) स्पर्शद्वारा एवं प्रबल इच्छा करनेसे ही दूसरे व्यक्तियोंमें संचारित हो सकती हैं। मेरे कई परिचित मेस्मेरिज्म करने वालोंमें ये सब विचित्र गुण थे।

होकर, तथा प्राणीमात्रके हितसाधनकी कामनासे प्रेरित होकर, अपनी प्रबल इच्छा शक्तिका सदुपयोग करें, और उसे केन्द्रित करके घनीभूत करे, तो अब भी कभी-कभी ऐसी चमत्कारक घटनाएँ घट सकती हैं।

२८६—मेस्मेरिज्मकर्ताकी जैव शक्तिको प्रचुर अथवा अल्प परिमाणमें रोगीकी शरीरमें प्रवाहित कर देना ही उपर्युक्त सब प्रकारके मेस्मेरिज्मकी क्रियाओंका उद्देश्य है। इसी कारण उन्हें पूरक मेस्मेरिज्म कहते हैं[1]। इनके विपरीत एक प्रकारका मेस्मेरिज्म और होता है जिसका परिणाम भी पूरक मेस्मेरिज्मके परिणामके विपरीत होता है। उसे सारक मेस्मेरिज्म कह सकते हैं। इस विधिका प्रयोग अप्राकृतिक अचेतनताको दूर करनेके लिये किया जाता है; अर्थात् चेतनाहीन रोगीको सचेत करनेके लिये किया जाता है। इस प्रकारके मेस्मेरिज्ममें जिस विधिसे रोगीके शरीरपर हाथ घुमाया जाता है (पास किया जाता है) उसे शान्तिप्रद अथवा भेदक पास कह सकते हैं। यदि घनीभूत होकर जैव शक्ति शरीरमें कहीं आवश्यकतासे अधिक एकत्र हो रही हो,

---

१—पूरक मेस्मेरिज्म निश्चयपूर्वक रोगोंका नाश कर सकता है। परन्तु इस कथनका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उसका दुरुपयोग हानिप्रद नहीं हो सकता। प्रायः देखा गया है कि चिर रोगाक्रान्त अशान एवं असहिष्णु रोगियोंको नीरोग करनेके लिये आध-आध घण्टे अथवा पूरे घण्टे-घण्टे भर लगातार पूरक मेस्मेरिज्म नित्यप्रति किया जाता है, जिससे रोगीकी दशा अत्यन्त अप्राकृतिक और भयानक हो जाती है, वह अचेत हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि इस आधिभौतिक जगत्से उसका सम्बन्ध ही नहीं रह गया, और वह सूक्ष्म जगत्का अथवा आधिदैविक जगत्का निवासी हो गया।

तो उसे छिन्न-भिन्न करके उसके प्रवाहको समग्र शरीरमें समान रूपसे व्यवस्थित करनेके निमित्त ही मारक मेस्मेरिज्मका प्रयोग किया जाता है। इस विधिकी मुख्य प्रक्रिया यह है—मेस्मेरिज्मकर्ता अपने करतलोंको रोगीके शरीरसे एक इञ्चकी दूरीपर समानान्तर रखते हुए शिरसे पाँव तक द्रुत गतिसे ले जाता है (पास करना है[1])। इस प्रकारके पास जितनी शीघ्रतासे किये जाते हैं घनीभूत जैव शक्तिको छिन्न-भिन्न करनेमें उतनी ही अधिक सफलता होती है; यथा, यदि मानसिक आघातके कारण किसी अन्यथा स्वस्थ नारीका[2] ऋतु-स्राव सहसा स्थगित हो गया हो और वह चेतनाहीन हो गई हो, तो उसकी जैव शक्ति प्रायः हृदयस्थलमें घनीभूत हो जाती है। ऐसी परिस्थितिमें मारक मेस्मेरिज्मके भेदक पासोंसे घनीभूत जैव शक्ति, छिन्न-भिन्न होकर, समग्र शरीरमें प्रवाहित होने लगती है और वह तुरन्त ही चेतन अवस्थामें आ जाती है[3]। इसी प्रकार अत्यन्त सबल पूरक मेस्मेरिज्मके पासद्वारा कभी-कभी अत्यन्त उत्तेजनाशील व्यक्तियोंमें व्याकुलतायुक्त

१—यह नियम सुप्रसिद्ध है कि जिस व्यक्तिपर पूरक अथवा मारक मेस्मेरिज्म करना हो, उसके किसी अङ्गपर रेशमी वस्त्र नहीं होना चाहिए।

२—अत एव कोमल स्वभाववाले चिर रोगग्रस्त व्यक्तिपर, जिसकी जैव शक्ति क्षीण हो गई हो, मारक मेस्मेरिज्मके द्रुत भेदक पासोंका परिणाम अत्यन्त हानिप्रद होता है।

३—एक बार मेस्मेरिज्म करनेवाली किसी नारीने देहातके दशवर्षीय बलवान बालकके साधारण अस्वास्थ्यको दूर करनेके लिये कुछ समय तक, उसके उदरपर प्रबल पूरक मेस्मेरिज्मके पास किये। फल यह हुआ कि बालक तुरन्त ही मृतवत् पीला पड़ गया और इतना अचेत एवं निश्चेष्ट हो गया कि किसी प्रकार वह चेतमें न आ सका। अन्ततो गत्वा समझ लिया गया कि वह मर गया ... ने उसके बड़े भ... पर्के

अशान्ति और अनिद्रा हो जाती है। ऐसी अवस्थामे सारक मेस्मेरिज्मके धीमे भेदक पासोंसे बहुत उपकार होता है।

मर्दन (मीजना)।

२६०—मर्दन भी इसी प्रकारकी क्रिया है। कभी-कभी रोग मुक्त हो जानेपर भी दीर्घकालीन रोगियोंको दुर्बलता, अग्निमान्द्य, अनिद्रा आदि सताती रहती है, और शक्तिलाभका क्रम बहुत धीरे धीरे अग्रसर होता है। ऐसी परिस्थितिमें सहृदय हृष्ट-पुष्ट व्यक्तिद्वारा किए गए मर्दनसे प्रायः लाभ होता है। हाथ-पाँव, वक्षःस्थल और पीठकी मांसपेशियोंको शनैः शनैः मर्दन करनेसे (पकडकर दबाने और मीजनेसे) जैव शक्ति जाग्रत हो जाती है और लसिका एवं रक्तवहा नलिकाओंमे तथा माँसपेशियोंमे उसका सञ्चार होने लगता है; फलतः वे पुष्ट हो जाती है। वास्तवमे मर्दनसे मेस्मेरिज्मका ही प्रभाव होता है, अतएव अत्यधिक अनुभूतियुक्त रोगियोपर अधिक मर्दन समुचित नहीं होता।

जल; ताप-क्रमानुसार जलस्नानकी औपचारिकता।

२६१—निर्मल जलमे स्नान करनेसे आशु रोगोंमे अस्थायी उपकार होता है। चिर रोगमुक्त रोगियोंके लिये निर्मल जलस्नान शक्तिलाभमे सदृश-विधानात्मक सहायता देता है। रोगमुक्त व्यक्तिकी शक्ति और अवस्थाका पूर्ण विचार करके स्नानके जलका तापमान स्थिर करना चाहिए, तथा यह निश्चय करना चाहिये कि कितने समय तक उसे स्नान करना चाहिये, और कितने समयके पश्चात् पुनः स्नान करना चाहिये। स्नान स्वयं कोई औषध नहीं है। विधिवत् स्नान करनेसे भी शारीरिक सुखद परि-

---

शिरसे पाँव तक सारक मेस्मेरिज्मके द्रुत भेदक पास करवाए और यह तुरन्त चेतन अवस्थामें आकर हँसने-खेलने लगा।

वर्तनमात्र होता है। श्वासके अवरोधसे, जलमें डूब जानेसे अथवा घोर शीत लग जानेसे शरीरके तन्तुसमूह मृतवत् हो जाते हैं, तथा ज्ञानतन्तु अनुभवशून्य हो जाते हैं। ऐसी अवस्था-में २५ से २७ अंश तापमानके सुषुम जलमें स्नान करनेसे प्रसुप्त तन्तुओंकी जड़ता दूर हो जाती है, और उनमें अनुभूति-शक्तिका पुनः संचार होने लगता है। यद्यपि इस उपचारसे अस्थायी लाभ ही होता है, तथापि यदि स्नानके साथ-साथ कहवाके उष्ण पेय-का भी प्रयोग किया जावे, तथा शरीरको हाथसे रगड़ा जावे, तो पर्याप्त उपकार होता है। हिस्टीरियाकृत आक्षेपोंमें तथा बाल्या-वस्थाके आक्षेपोंमें शारीरिक उत्तेजना अव्यवस्थित हो जाती है, उसकी व्यापकतामें असमानता हो जाती है; किसी अंगमें वह बढ़ जाता है, और किसीमें उसका अभाव सा हो जाता है। इस दशामें उपर्युक्त सुषुम जलमें स्नान करना सदृश-विधानात्मक सहाय प्रदान करता है। चिर रोगमुक्त व्यक्तियोंके घटे हुए जैवतापको ठीक करनेके लिये ६ से १० अंश तापमानके शीतल जलमें स्नान करना बहुत लाभदायक होता है। क्लान्त तन्तुओंमें पुनः शक्ति-संचारके लिये शीतल जलमें गोता लगाना उत्तम है, परन्तु प्रारभ-में झटपट गोता लगा लेना चाहिए; फिर बारंबार गोता लगाना चाहिए। यह केवल अस्थायी लाभ करनेवाला उपचार है। इस निमित्त कुछ समय तक, यथा एक दो मिनिटसे चार-पाँच मिनिट तक, क्रमशः अधिकाधिक शीतल जलमें गोते लगाना उचित है। इस प्रकार गोते लगानेसे अस्थायी उपकार ही होता है, उनकी क्रिया शरीर तक ही सीमित रहता है; अत एव उनसे किसी हानिप्रद प्रतिक्रियारूपी दुष्परिणामका भय नहीं होता जैसा कि शक्ति-शाली औषधोंके प्रयोगसे हुआ करता है।

देय, मनोज्ञ और सर्वांग-सुन्दर पुस्तककी रचना हुई है। यह पुस्तक केवल छात्रोंके लिये ही अत्यावश्यक नहीं है, बल्कि अनेक चिकित्सकोंके लिये भी लाभदायक होगी।

"नवेगाँव (छिन्दवाड़ा, मध्यप्रदेश) सैनिटोरियमके अध्यक्ष, सुविख्यात होमियोपैथिक चिकित्सक डा० एस. सेन (एम. डी.)—

होमियोपैथिक चिकित्साके सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्तोंको विद्वान् लेखकने ऐसे सहजबोध रीतिसे प्रतिपादित किया है कि विद्यार्थी बिना गुरुकी सहायताके भी उन गहन तत्वोंको सरलतापूर्वक हृदयंगम करनेमें समर्थ हो सकता है। जिस प्रसादमयी भाषामें पुस्तक लिखी गई है उसे पढ़नेमें अत्यन्त आनन्द होता है। इस चिकित्साके मर्मको अपने प्रचुर अनुभवके दृष्टान्तोंसे आलोकित कर लेखक महोदयने उन्हें सर्वसाधारण-सुलभ बना दिया है। इससे विज्ञान-सम्बन्धी नीरस विवेचन भी सरस हो गया है।

द्वितीय संस्करणमें भेषज-लक्षणकोष आदिको सम्मिलित कर देनेसे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। परिशिष्टमें पारिभाषिक शब्दकोषका समावेश करनेसे यह पुस्तक सर्वसाधारणके समझने योग्य बन गई है"

प्रयाग और काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके भूतपूर्व कुलपति डा० अमरनाथ झा—

कल मुझे आपकी पुस्तक मिली और कल ही प्रारम्भके तीन अध्याय मैं पढ़ गया। ऐसी अच्छी पुस्तक लिखने और प्रकाशित करनेपर हार्दिक बधाई।

उत्तरप्रदेशके शिक्षामन्त्री मा० डा० सम्पूर्णानन्द—

प्रस्तुत पुस्तक बहुत अच्छे ढंगसे लिखी गई है। इसको पढ़नेसे इस शास्त्रके आधारभूत सिद्धान्तोंका अच्छा अवबोध हो जाता है। बहुत बड़ी बात यह है कि इसमें केवल चिकित्साके उपाय नहीं दिये हुए हैं जिनको पढ़कर कोई भी अनाड़ी दवा करनेके मंत्र रटके सीख लेगा,

इस प्रकार यह ग्रन्थ न केवल होमियपैथीके छात्रों और चिकित्सकों-के लिये अत्यन्त उपयोगी है, वरन् प्रत्येक गृहस्थके लिये भी परम उपादेय एवं संग्रहणीय है। मूल्य १०)

कुछ सम्मतियाँ

डाक्टर एस० जी० मुकर्जी, सभापति अखिल भारतीय होमियोपैथिक मेडिकल कानफरेन्स—

"यह अमूल्य ग्रन्थ होमियोपैथिक चिकित्सा विज्ञान पाठ करनेमें अति मनोरम है। मैं निःसंशय यह कह सकता हूँ कि यह पुस्तक पाठकका बुद्धि और नीतिका उत्कर्ष साधन करेगी।

बहुतेरे होमियोपैथ इस चिकित्साके मूल विज्ञानसे परिचित नहीं हैं। उपयुक्त ग्रन्थका अभाव भी इसका कारण हो सकता है। ऐसे क्षेत्रमें यह चिकित्सा विज्ञान विशेष उपकारी होगा।

इस पुस्तकमें विशेषता यह है कि विषयोंकी व्याख्यामें जरा भी जटिलता नहीं पाई जाती। जीवनी शक्तिका गूढ रहस्य, रोग और आरोग्यकी संज्ञा, चिकित्सकका ज्ञान और कर्तव्य, रोगके प्रकार और प्रकृतिका विचार, औषध प्रस्तुत करनेकी विधि, परीक्षा-प्रणाली, औषधकी शक्ति और क्षुद्र मात्राका निर्देश, औषधका प्रथम प्रयोग, और पुनः प्रयोगका विविध विधि निषेध, पथ्यापथ्यविचार, विशेष-विशेष रोगचिकित्सामें विशेष-विशेष उपदेश इत्यादि इस पुस्तक म सम्मिलित होनेके कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त लाभप्रद है।

इस रहस्यमय विज्ञानका, जिसमे शक्तिपरिणत औषधोंके व्यावहारिक प्रयोगके साफल्य लाभमें अनेक परिज्ञात और अपरिज्ञात बाधा विघ्न हैं, महाशयजीने धारावाहिक विवेचन कर और उन बाधा विघ्नोंको अतिक्रम करनेका उपाय निर्धारण कर महत् उपकार साधन किया है। यह अति आनन्दका विषय है कि हिन्दी भाषामें चिकित्सा विषयक एक ऐसी उपा-

देय, मनोज्ञ और सर्वांग-सुन्दर पुस्तककी रचना हुई है। यह पुस्तक केवल छात्रोंके लिये ही अत्यावश्यक नहीं है, बल्कि अनेक चिकित्सकोंके लिये भी लाभदायक होगी।

२. नवेगाँव (छिन्दवाडा, मध्यप्रदेश) सैनिटोरियमके अध्यक्ष, सुविख्यात होमियोपैथिक चिकित्सक डा० एस. सेन (एम.डी.)—

होमियोपैथिक चिकित्साके सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्तोंको विद्वान् लेखक ने ऐसे सहजबोध रीतिसे प्रतिपादित किया है कि विद्यार्थी बिना गुरुकी सहायताके भी उन गहन तत्वोंको सरलतापूर्वक हृदयंगम करनेमें समर्थ हो सकता है। जिस प्रभावमयी भाषामें पुस्तक लिखी गई है उसे पढ़नेमें अत्यन्त आनन्द होता है। इस चिकित्साके मर्मको अपने प्रचुर अनुभवके दृष्टान्तोंसे आलोकित कर लेखक महोदयने उन्हें सर्व-साधारण-सुलभ बना दिया है। इसमें विधान-सम्बन्धी नीरस विवेचन भी सरस हो गया है।

द्वितीय खण्डमें भेषज लक्षणादि आदिको सम्मिलित कर देनेसे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। परिशिष्टमें पारिभाषिक शब्दकोषका समावेश करनेसे यह पुस्तक-सर्वसाधारणके समझने योग्य बन गई है"।

प्रयाग और काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके भूतपूर्व कुलपति डा० अमरनाथ झा—

कल मुझे आपकी पुस्तक मिली और कल ही प्रारम्भके तीन अध्याय मैं पढ़ गया। ऐसी अच्छी पुस्तक लिखने और प्रकाशित करनेपर हार्दिक बधाई।

उत्तरप्रदेशके शिक्षामन्त्री मा० डा० सम्पूर्णानन्द—

प्रस्तुत पुस्तक बहुत अच्छे ढंगसे लिखी गई है। इसको पढ़नेसे इस शास्त्रके आधारभूत सिद्धान्तोंका अच्छा अवबोध हो जाता है। बहुत भारी बात यह है कि इसमें केवल चिकित्साके उपाय नहीं दिये हुए हैं जिसको पढ़कर कोई भी अनाड़ी दवा करनेके उपाय लटके सीख लेगा,

वरन् ऐसी बातें बतलाई गई हैं जो मनुष्यको अपना स्वास्थ्य ठीक रखने में सहायक होगा।

बिहारप्रदेशके शिक्षामन्त्री मा० आचार्य बदरीनाथ वर्मा—

यह सर्वोत्तम होमियोपैथिक चिकित्सा पद्धतिका अत्यन्त उपादेय प्रतिपादन है और इसका पढनेसे साधारण मनुष्य भी इस पद्धतिके सम्बन्धमें यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मैंने इस विषयकी कई पुस्तकें देखी हैं पर इस पुस्तककी जैसी शैली है वैसी अन्य किसी पुस्तकमें मैंने नहीं देखा। ऐसे सर्वांगपूर्ण चिकित्साग्रन्थका प्रणयन कर पंडितजीने लोकोपकारका कार्य किया है।

उत्तरप्रदेशके स्वास्थ्यमन्त्री मा० श्री आत्माराम गोविन्द खेर—

इस पुस्तकमें होमियोपैथिक चिकित्साके सब पहलुओंपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और इससे बड़े अभावकी पूर्ति हुई है। इससे साधारण जनता एवं होमियोपैथिक चिकित्सकोंको बड़ा लाभ पहुंचेगा।

बिहारप्रदेशके स्वास्थ्य मंत्री—

यदि अधिकसे अधिक लोग इस शास्त्रका अध्ययन करें तो देशका बड़ा उपकार हो ..।

प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय (बनारस हिंदू युनिवर्सिटी)—

हिन्दीमें होमियोपैथिक चिकित्सा विषयके अन्य ग्रन्थोंसे मैं इसे अधिक महत्वशाली, गौरवास्पद तथा उपादेय समझता हूं। इस चिकित्सापद्धतिके वैज्ञानिक तथ्योंका उद्घाटन मिश्रजीने विशद रूपसे इस ग्रन्थमें किया है। केवल इसी ग्रन्थके अध्ययनसे इस चिकित्सापद्धतिके आवश्यक सिद्धान्त तथा व्यवहारकी जानकारी प्रत्येक व्यक्तिको हो सकती है।

उत्तरप्रदेशीय मेडिसनबोर्डके अध्यक्ष—श्री प० कमलापति शास्त्री-

मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थके पठन तथा मननसे होमियोपैथिक पद्धतिके चिकित्सक ही नहीं अपितु अन्य प्रणाली द्वारा चिकित्सा करने

वाले सज्जन भी लाभान्वित होंगे। चिकित्सा शास्त्रमें रुचि रखने वाले लोगोंसे मेरा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें।

दैनिक आज, बनारस—

"पुस्तकमें विषय-बोध जिस शैलीमें कराया गया है वह अत्यन्त उपयुक्त है। आदिसे अन्ततक विषयका सम्यक् एवं सांगोपांग विवेचन सैद्धान्तिक, व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक दृष्टिसे सफलतापूर्वक हुआ है। वस्तुतः पुस्तक संग्रहणीय एवं पठनीय है।"

दैनिक आर्यावर्त, पटना—

"लेखकने प्रत्येक विषयका वर्णन बड़े ही अच्छे ढंगसे किया है। पुस्तक प्रत्येक होमियोपैथिक चिकित्सकके एवं गृहस्थके लिये संग्रहणीय है।"

The Daily Leader, Allahabad Says—

"The book should prove a boon to every home"

The Daily Pioneer, Lucknow Remarks—

"Such an informative book in Hindi is of immense value. A standard book in Hindi was the immediate necessity"

The Amrit Bajar Patrika, Allahabad Opines—

"The Homœopathic Chikitsa Vigyan is a remarkable publication which fulfils a long-standing and keenly felt need of an authoritative book on the subject of Homœopathy in the Hindi Language.

Written in a charming lucid style, comprising

a study of diseases, their symptoms and remedies and including the personal professional experience of the learned author, the publication deserves to be a text book on the subject."

औषध-निर्वाचन-यन्त्र

होमियोपैथिक चिकित्साकी सफलता उपयुक्त औषध निर्वाचनपर निर्भर है। अनुभवी चिकित्सकोंको भी निर्वाचन-कार्यमें कभी-कभी भ्रम हो जाना सम्भव है। कठोर औषधके निर्वाचनमें पर्याप्त परिश्रम और समयकी अपेक्षा होती है। व्यस्त चिकित्सकोंके परिश्रमको घटाने तथा समय की बचत करनेके लिये यह लक्षण पञ्जिका कोष बनाया गया है। कठिनसे कठिन रोगोंके लिये इस यन्त्रद्वारा निर्वाचित औषध अमोघ और तत्काल फलप्रद होती है। कई वर्षके अनवरत एवं अथक परिश्रमसे यह यन्त्र बनाया गया है। अभी यह एक ही है। इस यन्त्रको विक्रयार्थ बनवाने में पर्याप्त मूलधनकी आवश्यकता होगी। देशव्यापी अर्थ-संकटके शिथिल हो जानेपर ही यह सम्भव हो सकेगा। तबतक होमियोपैथिक चिकित्सा विज्ञान के चतुर्थ अध्यायमें वर्णित विधिसे रोगोंका लक्षणसंग्रह तथा १०) दश रुपया दक्षिणा भेजकर औषध निर्वाचन कराया जा सकता है।

पत्र व्यवहारका पता—
डा० बालकृष्ण मिश्र
श्रीकृष्ण होमियोपैथिक औषधालय,
गाठकी हवली, बनारस।